तथ्य और घटनाओं को जाँचने की वैज्ञानिक-जैसी योग्यता है, जिसके पास अतीत को यथावत् प्रतिबिम्बित और पुनः प्रस्तुत करने के लिए दर्पण-जैसी यान्त्रिक सच्चाई और अविकलता है, जिसके पास सामग्री को छानने और पूछ-ताछ करने के लिए वकील-जैसी तर्क-बुद्धि है, जिसके पास विचित्र विरोधी वर्णनों के भीतर से सत्य तक पहुँचने का न्यायाधीश-जैसा पक्षपातहीन न्याययुक्त भाव है, और अन्त में जिसके पास वह सूक्ष्म और पैनी आँख है जिससे नई प्रमाण-सामग्री का दर्शन होता है और नये-नये अनधिकृत क्षेत्रों तक पहुँचा जा सकता है।[1]

---

१. बेनीडिटो क्रोचे ने अपने ढंग से इतिहासज्ञ की आवश्यकताओं का इस प्रकार उल्लेख किया है। उसके मत से इतिहासज्ञ वह है जिसके पास अपना 'दृष्टिकोण' है, और "जिन घटनाओं के वर्णन का वह बीड़ा उठाता है, उनके सम्बन्ध में स्वात्मा में अनुभूत एक दृढ़ मत या भाव है। ठूँठ घटनाओं के गड़बड़-झाले में से किसी भी कलात्मक इतिहास की रचना नहीं हो सकती, यदि लेखक के पास अपना दृष्टिकोण नहीं है, जिसकी सहायता से वह ऐतिहासिक घटनाओं के खड़ पत्थरों और सन्दर्भरहित सामग्री के पिंड से सुघड़ मूर्ति की रचना कर सके। यदि कोई लेखक इतिहासज्ञ के सच्चे गुणों से युक्त है और अपने कार्य के विषय में जानकार है, तो आप उसकी लिखी इतिहास की कोई पुस्तक उठाकर पढ़ लें, तुरन्त ही उसके दृष्टिकोण का पता लग जायगा। उदार और प्रतिक्रियावादी, बुद्धिपूर्वक घटनाओं की जाँच करने वाले (बुद्धिवादी), अथवा प्रमाणवादी (सनातन-धर्म की दृष्टि से शास्त्र-प्रमाण के अनुसार रचना करने वाले), सभी तरह के इतिहासज्ञ हुए हैं जिन्होंने राजनीतिक या सामाजिक इतिहास की रचना की है...। 'बावन तोले पाव रत्ती' ऐतिहासिक घटना के ही लिखने वाले इतिहास-लेखक न हुए हैं और न हो सकते हैं। क्या यह कोई कह सकता है, कि थ्यूसीडाइडीस और पोलिब्रियस, लिवी और टेसीटस, मेकियावली और गुइचयारदिनी, ज़ियानन और वाल्टेर—इनके पास कोई अपना नैतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण न था? हमारे अपने समय में भी गीज़ो और थियेर, मकाले और बल्बो, रेन्के और थॉमसेन—क्या ये बिना दृष्टिकोण के थे? यदि कोई इतिहास-लेखक किसी एक पक्ष का समर्थक बन जाने की अनिवार्य आवश्यकता से बचना चाहे, तो वह अवश्यमेव राजनीतिक और वैज्ञानिक दोनों क्षेत्रों में पुंस्त्वहीन बृहन्नला ही बन जायगा; और इतिहास-लेखक जैसा गुरुतर कार्य बृहन्नलाओं के वश की बात नहीं है। उन इतिहास लेखकों

मर्यादाएँ—इस प्रकार इतिहास उन घटनाओं से, एवं उन घटनाओं तक मर्यादित है जिनके विषय में हम जान पाते हैं; लेकिन भूतकाल की सब घटनाओं का ज्ञान हमें सदा नहीं हो पाता। उनमें से बहुत-सी विस्मृति के गर्भ में खो जाती हैं। भूतकाल का कितना ही अंश मर चुका है और विलीन हो गया है। उसका ब्यौरेवार लेखा रखने से ही उसकी रक्षा हो सकती थी। जहाँ भूतकाल की घटनाओं और वृत्तान्तों का कोई लेखा नहीं बचा, वहाँ इतिहास-निर्माण की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इतिहास का आरम्भ अतीत काल के इतिहास से होता है। ज्ञात घटनाओं की मर्यादा के अतिरिक्त इतिहास की यह भी मर्यादा है कि उन घटनाओं के स्रोत क्या हैं? अतएव इतिहासज्ञ का पहला कर्त्तव्य अपनी सामग्री के स्रोतों की छानबीन करना है। उसका दूसरा कर्त्तव्य उन स्रोतों से तथ्यों का दोहन है।

विवेचन—इस प्रकार जो घटनाएँ ज्ञात होंगी, उनका विवेचन किस प्रकार किया जाय यह घटनाओं के स्वरूप पर निर्भर है। एक तो तिथि-क्रम के अनुसार युगों के क्रम से घटनाओं का वर्णन किया जा सकता है। एक मत यह है कि इतिहास वस्तुतः काल-क्रम के वर्णन तक ही सीमित है और सुदूर या धुँधले अतीत की जिन घटनाओं या वृत्तान्तों के लिए निश्चित सम्वत् का पता नहीं, उनको इतिहास में स्थान न मिलना चाहिए। इस परिमित दृष्टिकोण से इतिहास केवल राजनीतिक इति-

का मत विश्वास कीजिए जो यह दावा करें कि वे केवल घटनाओं की ही पुछ-गछ करके उन्हें यथार्थ रूप में रखना चाहते हैं और अपनी ओर से कुछ जोड़ने के लिए उनके पास कुछ नहीं है। उनका ऐसा मानना तो भोंदूपन है या बुद्धि का भ्रम। अगर वे सच्चे इतिहासज्ञ हैं तो वे अवश्य ही, चाहे अनजान में ही सही, उस घटना पर अपना रंग चढ़ा देंगे। अथवा यदि वे सीधे स्वभाव यह समझते भी रहें कि उन्होंने ऐसा नहीं किया है, तो भी संकेत और ध्वनि से उस वर्णन पर वे अपना रंग चढ़ाए बिना नहीं रह सकते। वह तो रंगत देने की और भी अधिक पैनी एवं मार्के की शैली है।" और यह स्वानुभवजनित दृष्टिकोण जिसकी मानवीय घटनाओं के वर्णन के लिए नितान्त आवश्यकता है, "उन गुणों के साथ भी बेमेल नहीं है जिनकी आवश्यकता मानवीय घटनाओं और ऐतिहासिक सामग्री के साथ व्यवहार करने वाले प्रत्येक लेखक को पड़ती है। उदाहरण के लिए, वे गुण ये हैं—वास्तविकता को आधार बनाना, पक्षपात से शून्य होना और हृदय में सरल या निष्कपट भाव रखकर सामग्री का उपयोग करना।" (ईस्थिटिक, पृ० २२०–२३, ऐन्सली कृत अनुवाद)

हास बन जाता है, जिसमें उन निश्चित स्थूल घटनाओं और प्रवृत्तियों का वर्णन रहता है, जिनका सम्बन्ध किसी देश की राजवंशावली से हो। लेकिन घटनाओं के पौर्वापर्य पर हम काल-क्रम के अतिरिक्त विचारों के विकास की दृष्टि से भी चिन्तन कर सकते हैं। घटनाओं को इस प्रकार से सजाया जा सकता है कि उनसे उन्नति का क्रम सूचित हो, अर्थात् अपने आरम्भ काल से लेकर आनुक्रमिक अवस्थाओं में से गुजरती हुई वे व्यवस्थित विकास की प्रक्रिया का अंग जान पड़ें। अथवा, घटनाओं को विचारों के पौर्वापर्य-क्रम और सम्बन्धों के अनुसार हेतु और युक्ति से सजाकर रखा जा सकता है। यदि हम इन दोनों उपायों को काम में लावें—अर्थात् काल-क्रम के अनुसार घटनाओं को सजाना और दार्शनिक युक्ति से उन पर विचार करके उन्हें प्रस्तुत करना—तब इतिहास का क्षेत्र बहुत व्यापक बनाया जा सकता है। उस दशा में इतिहास अपरिवर्तनीय तिथि-क्रम के बन्धन में जकड़ा हुआ राजनीतिक इतिहास-मात्र न रहेगा, बल्कि उसमें और भी बहुत सी अति रोचक महत्त्वपूर्ण सामग्री को स्थान मिल सकेगा; उसमें सामाजिक इतिहास, संस्थाओं का इतिहास, संस्कृति और सभ्यता का इतिहास भी समाविष्ट हो सकेगा, जो कि जनता के राष्ट्रीय इतिहास की दृष्टि से अधिक महत्त्व और स्थायी मूल्य रखते हैं। शुद्ध राजनीतिक या तिथिक्रम के रूप में सजाये हुए इतिहास का जो विशेष रूप तारीखी घटनाओं के वर्णन तक ही सीमित हो, उसका कभी उतना अधिक महत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि जन-इतिहास की तुलना में उसका स्वल्प और नगण्य स्थान है। जन-इतिहास का सम्बन्ध शासक, राज्य-प्रणाली और शासन-विधि से उतना नहीं होता जितना संस्कृति और सभ्यता के विकास से, एवं उन रचनात्मक शक्तियों, साधनों और आन्दोलनों से होता है, जो उस विकास को रूप देती हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सांस्कृतिक इतिहास के लिए जिसका सम्बन्ध मनुष्य के विचारों, आदर्शों, संस्थाओं, आचार, व्यवहार और विश्वासों से है, खाली तारीखी घटनाओं से काम नहीं चल सकता। केवल राजनीतिक इतिहास में तो कहीं-कहीं ही इस सामग्री का प्रयोग किया जाता है। सभ्यता के इतिहास के लिए एवं कर्म और विचारों के विभिन्न क्षेत्रों में युग-युग व्यापी राष्ट्रीय विकास व इतिहास के लिए घटनाओं को सामूहिक दृष्टि से देखना होगा। उनके सामान्य और व्यापक सम्बन्ध और परिणामों पर, उनकी प्रवृत्तियों पर, जिनसे उस विकास की विभिन्न अवस्थाओं और प्रतिक्रियाओं का पता लगता है, विचार करना होगा।

भारतीय इतिहास में इसका उपयोग—तिथिक्रम पर आश्रित भारतीय इतिहास लगभग ६०० ई० पू० से आरम्भ होता है, जो कि धार्मिक विचारों के अग्रणी नेता गौतम बुद्ध का युग था। भारतीय इतिहास में वही पहली तिथि है

जो कुछ-कुछ पक्की समझी जा सकती है। लेकिन बौद्ध-धर्म का उदय ही तो भारत के इतिहास की पहली घटना नहीं थी। उससे पहले अतीतकालीन इतिहास और विकास का एक लम्बा युग बीत चुका था जिससे बुद्ध-धर्म की उपज हुई। उस पूर्व इतिहास के पेटे में जो घटनाएँ और आन्दोलन हुए उनके लिए तिथि निकालना सम्भव नहीं। उस सुदूर अतीत के इतिहास का पुनर्निर्माण करते समय तिथि-क्रम पर आश्रित पद्धति जवाब दे देती है। उसके लिए हमें किसी दूसरे उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा जो उस सम्बन्ध में उपयोगी हो सके। प्राग्-बुद्धकालीन भारतीय इतिहास में सन्-सम्वत् की सामग्री नहीं है, किन्तु उसमें दूसरे प्रकार की सामग्री बहुत अधिक है। राजाओं के काल-क्रम पर आश्रित घटनाओं से सजने वाले राजनीतिक इतिहास की रचना उस सामग्री से नहीं हो सकती, पर सभ्यता का इतिहास उससे लिखा जा सकता है जिसमें विचार और आचार की व्यापक प्रगति, संस्थाओं का विकास, समाज-व्यवस्था, आर्थिक-जीवन, साहित्य और धर्म की युगानुसारी उन्नति का अध्ययन हो।

इतिहास के साधन—सांस्कृतिक अथवा तिथिक्रम पर आश्रित इतिहास उपलब्ध साधनों से सीमित रहता है। मानवीय जीवन की बीती हुई कहानी के साधन, सामग्री और प्रमाण लेखरूप में और भौतिक अवशेषों के रूप में होते हैं। उनका स्वरूप साहित्यिक होता है अथवा शिल्पगत या स्मारक-चिह्नों के रूप में। इतिहास के विकास के साथ साधनों का भी विकास होता है। मानवीय जीवन की प्राचीन प्रमाण-सामग्री लिखित पट्टों या ग्रन्थों के रूप में नहीं मिलती, क्योंकि लेखन-कला शिक्षा या साहित्य तब आते हैं जब सभ्यता काफी आगे बढ़ लेती है। अनेक विद्वान् समझते हैं कि भारतवर्ष में ८०० ई० पू० से पहले लेखन-कला ज्ञात न थी, किन्तु यह मत सबको मान्य नहीं है। पर इतना निःसन्देह है कि भारत में लिपि से बहुत पहले साहित्य बन चुका था और गुरु-शिष्य की पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा के द्वारा उसकी रक्षा होती रही और क्रम चालू रहा। शिक्षा की भारतीय प्रणाली में ग्रन्थ सुन-सुनकर आगे बढ़ाये गए, जिसे यहाँ की परिभाषा में श्रुति कहा गया है। इस प्रकार जो ज्ञान था वह स्मृति में या कंठ में संचित रहा। उस समय के विद्वान् चलते-फिरते (चरक) ग्रन्थालय थे। मौखिक ज्ञान और शिक्षा की इस प्रणाली को प्राचीन भारतवासी उसके आन्तरिक गुणों के कारण और सक्षम शिक्षा-विधि के कारण बहुत अधिक महत्त्व देते थे। लिपि के चल जाने के बाद भी बहुत दिनों तक शिक्षा की मौखिक प्रणाली चालू रही। कुछ मूलभूत धार्मिक ग्रंथ, विशेषतः वेद आदि मनन के लिए हृदय में धारण कर लिए जाते हैं, और आज दिन तक धार्मिक जन उनकी रक्षा के लिए लेख या पुस्तकों-जैसे

बाह्य साधनों का आश्रय नहीं लेते। यह मानते हुए भी कि भारत में साहित्य लिपि से पहले बना और चिरकाल तक कंठ-परम्परा से जीवित रहा, उसे ही भारत के इतिहास की प्राचीनतम प्रमाण-सामग्री नहीं कहा जा सकता। जिन्हें प्राग्-ऐतिहासिक युग कहा जाता है उनमें भारतवासी मानव के सर्वप्रथम जीवन के बचे हुए कुछ भौतिक अवशेष और चिह्नों में वह प्राचीनतम प्रमाण-सामग्री उपलब्ध होती है। उन पूर्व दिनों में प्रयुक्त औज़ार, हथियार, बस्ती और घर वे साधन हैं। पीछे जब संस्कृति और सभ्यता बढ़ी, मानवीय जीवन की साक्ष्य सामग्री भी बहुल और विविध होने लगी, यहाँ तक कि ऐतिहासिक युगों में भी इतिहास के साधन न केवल साहित्य, लोकवार्ता और अनुश्रुति के रूप में मिलते हैं, कई प्रकार के भौतिक अवशेषों के रूप में भी, जैसे वास्तु, शिल्प, चित्र, शिलालेख, ताम्र-पट्ट और सिक्के, जिनसे कि उनके चिह्नों के आहत रूप, बिरुद-लेख, तोल, मान, बनावट और धातु के द्वारा इतिहास-सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती हैं। इस प्रकार साहित्य, अभिलेख, मुद्रा, कला, शिल्प और स्मारक इन सब प्रमाणों से यथा-प्राप्त सामग्री के आधार पर इतिहास की रचना करना आवश्यक है। कभी तो ये साधन बहुत छिटके हुए परदेश और दूर के स्थानों में भी मिल सकते हैं। जिन देशों के साथ भारत का लेन-देन रहा है उनका इतिहास भी हमारे अपने इतिहास पर प्रकाश डाल सकता है। भारतीय इतिहास के कुछ प्रमाण यूनानी और रूमी लेखकों के ग्रन्थों में पाए जाते हैं। मैसोपोटामिया से प्राप्त एक अभि-लेख ऋग्वेद की, जो भारत और सम्भवतः संसार का सर्वप्रथम साहित्यिक ग्रन्थ है, प्राचीनता पर प्रकाश डालता है। पूर्व भारतीय द्वीप-समूह के अन्तर्गत जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में अथवा स्याम, कम्बोज प्रभृति देशों में जिन्हें अब सुविधा के लिए हिन्देशिया के नाम से पुकारते हैं, अनेक पुराने स्मारक-चिह्न विद्यमान हैं, जिनका निर्माण भारतीय संस्कृति और कला-कौशल के कारण हुआ और जो भारतीय दिग्विस्तार अथवा अपनी सीमाओं से परे बृहत्तर भारत की स्फीति पर प्रकाश डालते हैं।

: २ :

प्राग् ऐतिहासिक भारत

भूगर्भ रचना—प्राग् ऐतिहासिक भारत की समीक्षा प्राकृतिक और मानवीय दोनों दृष्टियों से करना आवश्यक है। भारत का भौगोलिक रूप, जैसा हम मानचित्र में देखते हैं, एक दिन में नहीं बना। वह भूगर्भीय विकास या भू-रचना के लम्बे क्रम का परिणाम है। आरम्भ में पृथ्वी सूर्य की तरह जलती हुई चंचल पिण्ड थी। न तो उसमें भारत आदि पृथक् देश ही थे और न जीवन या जीवित रूप का ही चिह्न था। भूगर्भ-शास्त्री पृथ्वी की आयु के चार प्रधान युग मानते हैं जिनमें से हरएक जीवन-विकास के अनुसार कई छोटे भागों में बँटा हुआ है। ये युग इस प्रकार हैं—

(१) अजन्तुक, जब पृथ्वी पर किसी प्रकार का जीवन न था; (२) पुराजन्तुक, जब मेरु-दण्ड-हीन प्राणियों के रूप में जीवन के चिह्न पहले-पहल दिखाई पड़े। आरम्भ में सामुद्रिक घास और सिवार, स्पंज और लिब-लिब मछली, बाद में मत्स्य, सरीसृप, पक्षी एवं बड़े-बड़े पेड़ और जंगल, जिनसे धरती में कोयले और अंगारों की सन्धियाँ बन गईं; (३) मध्यजन्तुक, और (४) नवीन जन्तुक (हाल में उत्पन्न जीवन), जिस युग में विविध प्रकार के स्तनपायी जन्तु विकसित हुए जिनमें से मनुष्य भी संवर्द्धित हुआ।

जब धरती का ऊपरी छिलका ठंडा पड़ा और जमकर कड़ा हो गया, उस समय जीवन का विकास हुआ। भूकम्प, ज्वालामुखी-उद्गार, हवा और पानी के परिवर्तनों के कारण पृथ्वी अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुई है और इसी तरह भारत की भी रचना खण्ड-खण्ड करके कई बार में हुई है। उसके कुछ हिस्से बहुत पुराने हैं जो धरती की सबसे पहली पपड़ी के अंश कहे जा सकते हैं। ध्रुव उत्तर से दक्खिन तक फैली हुई उसकी रीढ़ या चट्टानी नींव इतनी पुरानी है जितनी कि यह सृष्टि। भारतीय प्रायद्वीप का जो हिस्सा दक्खिनी पठार या दक्षिणा-पथ कहलाता है वह इसी जरठ भूगर्भ की एक चिप्पड़ है और उसकी तुलना में

उत्तरी भारत के मैदान तो बिलकुल हाल के ही हैं। दक्खिनी पठार का भू-भाग एक दूसरे महाद्वीप का अंग था जिसे भू-शास्त्री 'गोंडवाना' के नाम से पुकारते हैं। इसका विस्तार दक्षिणी अफ्रीका से लेकर आस्ट्रेलिया होता हुआ दक्षिणी अमेरिका तक फैला हुआ था जैसा कि इस सारे क्षेत्र में फैले हुए पशु और वनस्पति-सम्बन्धी जीवाश्म या पथराए हुए अवशेषों की पहचान से ज्ञात होता है।

गोंडवाना के पूर्वी भाग को पश्चिमी भाग से अलग करने वाला जल-विभाजक पश्चिमी घाट या सह्याद्रि पर्वत-माला थी; इसीलिए तो हम देखते हैं कि दक्खिनी पठार की वे नदियाँ, जिनके उद्गम-स्थान अरब सागर या रत्नाकर के बिलकुल समीप हैं सामने की दिशा में बहती हुई बंगाल की खाड़ी या महोदधि से जा मिलती हैं। उत्तर में एक अति विस्तृत यूरेशियाई महार्णव, जिसे टेथिस या पाथोधि के नाम से पुकारते हैं, उस सारे भू-खण्ड पर छाया हुआ था जो मध्य-यूरोप से लेकर लघु-एशिया, उत्तरी भारत और बर्मा तक फैला हुआ था। भारत में केवल आरावली या अर्बुदाचल पर्वत-शृङ्खला ऊँचा सिर उठाये हुए इस समुद्र को देख रही थी। इस समुद्र में छुट्टा आने-जाने के जो मार्ग थे उन्हीं के कारण चीन, मध्य हिमालय और बर्मा-जैसे विलग प्रदेशों से मिले हुए प्राप्त जीवाश्म-चिह्नों में परस्पर समानता पाई जाती है। बहुत अरसे बाद पहाड़ों का तक्षण करने वाले धक्कों का पहला अनुभव हुआ। पाथोधि समुद्र (टेथिस) पश्चिम की ओर हटा और उसकी तलहटी उभर आई और उसके दोनों किनारों की भूमि एक-दूसरे से मिल गई। उन किनारों के बीच में जो मुलायम समुद्री धरती थी उसमें सिकुड़नों के पड़ने और कुचलने से भारत के हिमालय,[1] ईरान के पहाड़,

---

१. मानवीय इतिहास के लिए हिमालय का महत्त्व कथन से बाहर है। मनुष्य का विकास स्वयं इसी भारी प्रवाह वाली भूगर्भ-रचना के कारण हुआ। बैरल ने सबसे पहले यह सुझाव दिया था कि मध्य उषाकालीन युग के लगभग अन्त में दस लाख वर्ष पहले मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व में आए। सर आर्थर स्मिथ वुडवर्ड के मतानुसार, "जब धरती ऊपर उठी, तापमान घट गया, और कुछ वानर-जातीय जन्तु जो पहले गरम जंगलों में बसते थे उठी हुई धरती के उत्तर की ओर घिर गए।" "जब जंगल हटे और उनकी जगह खुले मैदानों ने ली, मनुष्य के पूर्वजों को भूमि पर रहने के लिए बाधित होना पड़ा। यदि ये पेड़ों पर ही रहते, या वानरों की तरह भूमि और वृक्षों पर मिले-जुले रहते, तो कभी भी मनुष्यों का विकास न होता।" (टामसन और गैडीज, आउटलाइन्स ऑफ जनरल बायोलॉजी, भाग २, पृ० ११६४)।

कार्पेथिया के पर्वत और आल्पस् पर्वतों का निर्माण हुआ। इनमें सबसे बड़ा हड़कम्प वह था, जिसमें एशिया की भूमि दक्खिन की ओर टली और पाथोधि समुद्र की तलहटी को नीचे ठेलने लगी; जिसके कारण दक्षिणी पठार जो भारत का दृढ़ भाग था उस धक्के की चोट से कुछ टूट गया और सिकुड़न डालने का कारण हुआ। इन चुन्नटों के अवशेष भू-विद्या के पण्डितों ने हिमालय के बिचले भाग में ढूँढ़ निकाले हैं जिनमें महा हिमवन्त की ऊँची चोटियाँ और शिमला के इर्द-गिर्द की पहाड़ियाँ शामिल हैं। इसी से सम्बन्धित जो सिकुड़नें सामुद्रिक तलहटी में पड़ गईं उनके चिह्न देहरादून-शिमला-स्पीति-क्षेत्र के उत्तरी भाग में पाये गए हैं। इसी समय हिमालय और दक्खिनी पठार की भूमि नीचे धँस गई। उत्तर के पहाड़ों से आने वाली नदियाँ अपने साथ जो मिट्टी-बालू बहा कर लाती रहीं उससे बहुत पीछे यह गड्ढा धीरे-धीरे भरा गया और उत्तरी भारत के मैदान बने।

इस तरह जब भारतवर्ष का भौगोलिक रूप और ढाँचा बन चुका था, उसके अरसे बाद भारत-भूमि पर मानव की उत्पत्ति हुई जिसने इतिहास का सूत्रपात किया। देश में मानवीय अवतार के अनुकूल परिस्थितियों को बनाने वाले प्राकृतिक इतिहास का चक्र जब पूरा हो चुका उसके बहुत दिन पीछे मनुष्यों का इतिहास शुरू हुआ।

प्राग् ऐतिहासिक संस्कृतियाँ—*पाषाण युग*—अपनी आरम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य जिन उपकरणों का प्रयोग करता है उन्हीं के अनुसार उसके प्रथम इतिहास के युग-विभाग किए जाते हैं। ये उपकरण विशेष रूप से उसके औजार, हथियार, बरतन-भाँडे और उसके शव-स्थानों के रूप में मिलते हैं। शुरू-शुरू में पत्थर के औजार बनाये गए जो बड़े खण्ड में से टाँचे हुए और शकल में अनगढ़ होते थे। जो जानवर अब उच्छिन्न हो गए हैं उनकी पथराई हुई ठठरी या हड्डियों के साथ प्रायः वे पाये गए हैं, इसलिए सभ्यता के सबसे पहले युग को प्राचीन पाषाण या पूर्व-प्रस्तर-युग कहते हैं। उसके बाद नया-पाषाण या नव-प्रस्तर-युग आया जिससे सुधरे हुए पत्थर के औजार बनाये गए जो तराशकर, घिसकर और चिकना करके तष्ट-घृष्ट-मृष्ट रूप में बनाए जाते थे। इनके साथ प्रायः उन पशुओं के ढाँचे मिले हैं, जो अभी तक लुप्त नहीं हुए। इस युग में मिट्टी के बरतन भी, पहले हाथ से और पीछे चाक पर, बनाए जाने लगे, एवं भारी शिला-खण्ड या पटियाओं (स्थाणुओं) को आड़ा खड़ा रखकर बनाई हुई समाधि में शवों को भू-निखात करने की प्रथा के द्वारा मृत-आत्माओं का सम्मान करने का भाव भी इस युग में उत्पन्न हुआ। इससे स्पष्ट है कि पूर्व और नूतन

प्रस्तर युगों में समय और संस्कृति का भारी व्यवधान था। इसके बाद की विकास की अवस्थाएँ शीघ्रता से एवं अलक्षित भेदों के साथ घटित हुईं, जिनमें ताम्र, कांस्य और लोहे का प्रयोग मुख्य विशेषता थी।

भारतवर्ष में अन्य देशों की भाँति विकास-क्रम की ये सब अवस्थाएँ बीती हैं। केवल कांस्य-युग के स्थान पर (कुछ प्रदेशों को छोड़कर) ताम्र-युग से मिलती संस्कृति यहाँ हुई।

पूर्व-प्रस्तर के अवशेष भारत में कम ही हैं। मुख्यतः दक्षिणी पठार एवं द्रविड़ देश में, जो भू-गर्भ की दृष्टि से भारत के प्राचीनतम भाग हैं, उस काल के अवशेष पाए जाते हैं। वे अवशेष २५° अक्षाँश के दक्षिण में मुरम के रंग की चेचक पत्थर (लेटराइट) की धरती में, जिसे दक्षिण में इटिकाकुलु कहते हैं और पथरीली बजरी (ग्रावेल्स) में, जिसमें कंकालों की हड्डियाँ मिलती हैं, पाए जाते हैं। इस तरह की प्रस्तर-भूमि बूझा पत्थर की बनी होती है, जिस कारण पूर्व-प्रस्तर-युग के मानव बूझा-प्रस्तरीय-मानव (क्वार्ट्ज़ाइट मैन) भी कहलाते हैं।[1] बूझा पत्थर के बहुसंख्यक औज़ार मद्रास शहर के पास और गुंटूर जिले के औंगल स्थान में एवं कड़प्पा में और भी अधिक पाये गए हैं। जो प्रदेश बूझा चट्टान की विद्यमानता के कारण पूर्व-प्रस्तर-युग की संस्कृति का क्षेत्र था, उस प्रकार के बिलारी नव-प्रस्तर-युग की संस्कृति के कुछ पूर्व-प्रस्तरीय अवशेष अन्य स्थानों में भी छितरे मिले हैं। बूझा पत्थर के खड़ में से चिप्पड़ ठोककर बनाया हुआ बैज़ावी (अंडा-कृति) पहले का सुगठित औज़ार नर्मदा की उपत्यका में तृतीयकोत्तर (पोस्ट-टर्शियरी)[2] युग की कंकरीली धरती में पाया गया था, जिसमें दरयाई घोड़े और अन्य लुप्त पशुओं की हड्डियाँ भी मिली थीं। गोदावरी की उपत्यका की इसी प्रकार की चाँचर

१. अंग्रेज़ी लेटराइट (laterite) के लिए तामिल भाषा में इटिकाकुलु शब्द है जिसका शब्दार्थ हैं चेचक या सीतला के निशान। लेटराइट धरती लाल रंग की होती है।

अंग्रेज़ी में जिसे क्वार्ट्ज़ (quartz) कहते हैं उसे मैंने बूझा पत्थर कहा है। यह नाम कोदरमा की ओर चालू है। —अनु०

२. अंग्रेज़ी टर्शियरी (tertiary) के लिए सं० तृतीयक और क्वार्टरनरी युग के लिए सं० तुरीयक शब्द प्रयुक्त किये गए हैं। प्रत्यग्रजन्तुक (केनोज़ोइक cainozoic) युग का पूर्व काल-विभाग टर्शियरी और पिछला क्वार्टरनरी कहलाता है। भूगर्भ-शास्त्रियों के अनुसार भू-रचना और जीव-विकास के मुख्य युग-विभाग निम्नलिखित हैं—

(देखिए अगले पृष्ठ पर टिप्पणी)

भूमि (ग्रावेल्स) में हकीक की एक चिप्पड़ (अगेट फ्लेक) मिली थी। मिरज़ापुर की दूधी तहसील के प्रदेश में कोन की पर्वत-दरी में कुछ औज़ार मिले हैं जो प्राप्त-स्थान के आधार पर नव-प्रस्तर-युग के समझे जाते हैं। गाज़ीपुर जिले में गंगा नदी की रौसली मिट्टी की तह में, जहाँ घुटे हुए नव-प्रस्तर-युग के औज़ार मिले थे, उसी तह के नीचे बाण के अग्र-भाग की तरह की मछली की हड्डी जिसके दोनों ओर दाँते कटे हुए थे प्राप्त हुई है।

पूर्व-प्रस्तर-युगीय मानव कड़प्पा या मद्रास तक के बूझा-क्षेत्रों तक ही सीमित रहे, किन्तु नव-प्रस्तर-युग के लोग सारे देश में फैल गए। उनके अवशेष मुख्यतः इस प्रकार हैं—

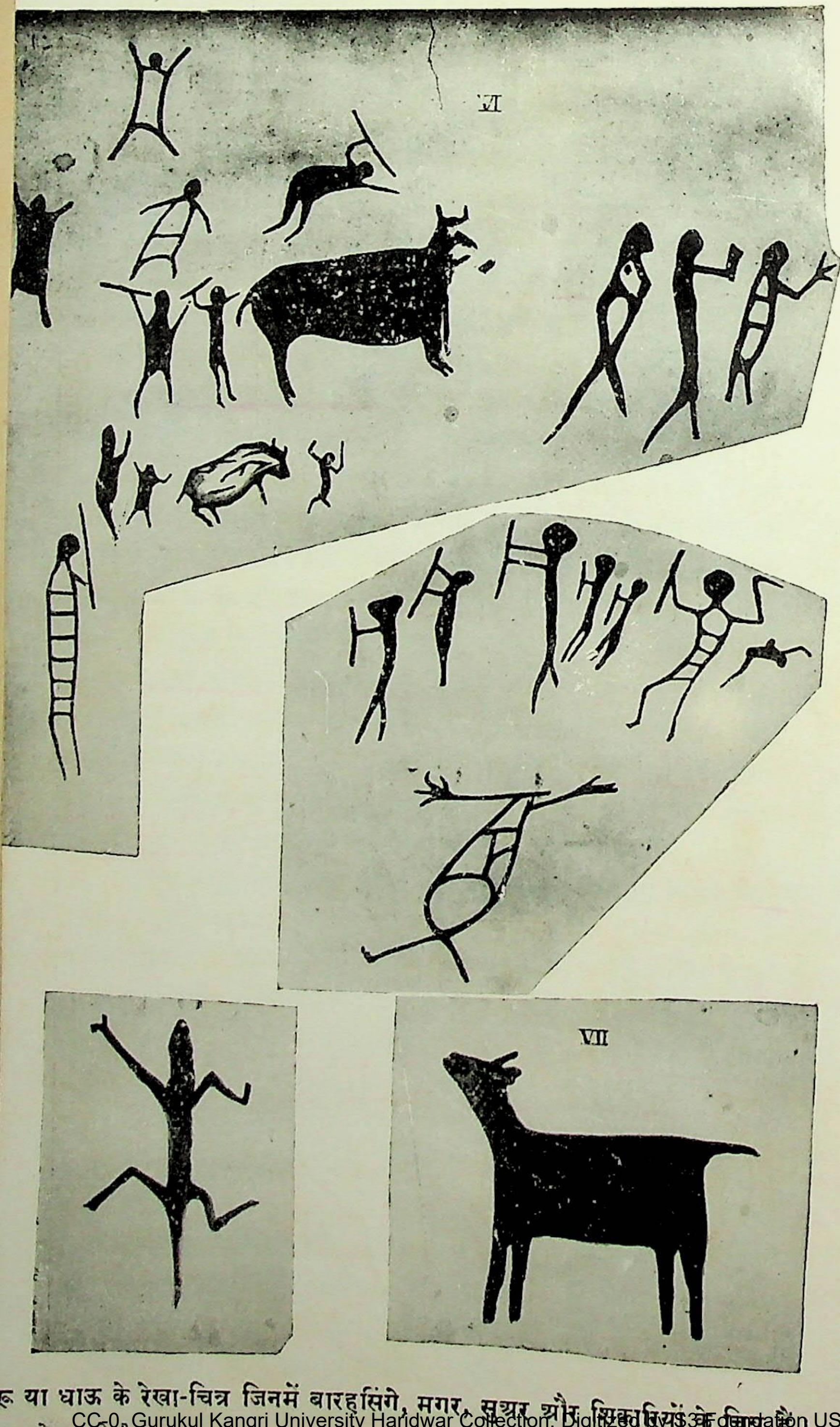
१. *चकमक की कतरनें*[1]—आधे इंच से लेकर डेढ़ इंच तक लम्बे चकमक पत्थर के पिद्दी औज़ार जो आकार में बाण की नोक, नुकीली चन्द्र लेखा, या अन्य प्रकार की गठीली शक्ल के होते हैं। जान पड़ता है कि इन्हें वे लोग लकड़ी के दस्ते या हाथों में लगाकर काम में लाते थे। इनके प्राप्ति-स्थान प्रायः विन्ध्याचल के सैकत या छिछले नदी-पुलिनों (Shoal) में, बघेलखण्ड, रीवा, मिरज़ापुर में, दरी[1] या चट्टानी ढकने की जगहों में चूल्हे की राख और कोयलों के साथ मिले हैं, अथवा पूरे कंकाल के पास रखे हुए कुछ भौंडे बरतनों के साथ शव-निखात-स्थानों में भी पाये गए हैं। रूखानी-जैसी धार का बीच में से उठा हुआ एक विशेष प्रकार का पत्थर का औज़ार छोटा नागपुर, आसाम; और उससे भी अधिक बर्मा, हिन्द-चीन और मलाया प्रायद्वीप में पाया गया है।

२. *औजारों के निर्माण-स्थान*—दक्षिण भारत में कई स्थानों पर नव-

---

१. अजंतुक	एज़ोइक	८० करोड़ वर्ष	कोई जीव नहीं
२. प्रारम्भजंतुक	प्रोटेरोज़ोइक	६० ,,	काई, श्यान-मत्स्य
३. पूर्व पुराजंतुक	अर्ली पेलिओज़ोइक	३६ ,,	मेरु-दण्डरहित जीव, समुद्री बिच्छु आदि
४. अपर पुराजंतुक	लेटर पेलिओज़ोइक	२६ ,,	मीन, झष आदि
५. मध्यजंतुक	मेसोज़ोइक	१४ ,,	सरीसृप, दानव-सरट (डाइनोसौर) आदि
६. प्रत्यग्रजंतुक	केनोज़ोइक	४ ,,	स्तनपायी जन्तु

१. मिरजापुर ज़िले में इन पहाड़ी गुफाओं को अभी तक दरी कहते हैं जैसे लेखनियादरी, सोनदरी, भालदरी जिनमें चित्र लिखे हैं। बुन्देलखण्ड में इन चित्रों को "रकत की पुतरियाँ" कहते हैं।



रू या धाउ के रेखा-चित्र जिनमें बारहसिंगे, मगर, सुअर और शिकारियों के चित्र हैं।
१३ के सामने]

प्रस्तर-युग की बस्तियाँ तथा उनके औजार गढ़ने की कर्मशालाओं के स्थान पाये गए हैं। ज्ञात होता है कि वे लोग अपने औजारों को कड़ी चट्टानों पर बनाई हुई धाइयों में घिसते और माड़ते थे। १० से १४ इंच तक लम्बी और दो इंच गहरी धाइयाँ पाई गई हैं। इन बस्तियों में चाक से बने बढ़िया बरतन बहुतायत से मिले हैं, और उनके साथ पत्थर की गुरियाँ तथा गेरूआ धाऊ पत्थर के टुकड़े, जिनसे वे रंग बनाते थे।

३. *राख के धूहे* (Cinder mounds)—जो दक्षिण-भारत के बिलारी ज़िले में मिले हैं। कहते हैं कि ये अनगिनत पशुओं की बलि के कारण बन गए थे। इनमें से नव-प्रस्तर-युग के औजार भी मिले हैं।

४. *प्यालेनुमा घट्टे* (Cup-marks)—इस प्रकार के निशान पत्थर और चट्टान पर बने हुए भारतवर्ष में कितनी ही जगह मिले हैं। इन्हें नव-प्रस्तर-युग के मानव की कृति समझा गया है।

५. *गेरू या धाऊ के रेखा-चित्र*[1] *: "रकत की पुतरियाँ"*—ये निम्न-लिखित स्थानों में मिली हैं।

(अ) विन्ध्याचल के मिरजापुर जिले में जिसमें सपत्र भाले लिये हुए शिकारी गेंडे पर हमला कर रहे हैं जिसकी नस्ल अब लुप्त हो चुकी है; (आ) होशंगाबाद जिले की दरी में जुर्राफ का चित्र; (इ) कैमूर की पहाड़ियों में बारहसिंगे के शिकार के दृश्य; और (ई) सिंहनपुर; जहाँ कंगारू-जैसे किसी पशु के चित्र, एवं घोड़े और हिरनों के चित्र हैं, जो समकालीन स्पेन में बने हुए चित्रों से मिलते-जुलते हैं। ये प्राग् ऐतिहासिक चित्र नव-प्रस्तर-युगीय औजारों के साथ मिले हैं।

६. *समाधियाँ*—पूर्व-प्रस्तर-युगीन मानव-शवों को जंगलों में यों ही डाल देते थे,[2] पर नव-प्रस्तर-युगीय मानव ने अपने शव के संस्कार में कुछ सुधार किया और वे उन्हें गाड़ने लगे। नव-प्रस्तर-युगीय श्मशान भारतवर्ष में कम ही मिले हैं। मिरज़ापुर में एक कब्र में मिट्टी के रोगनदार बरतन और काँच के टुकड़ों के साथ एक युवा पुरुष का कंकाल मिला था। कोलार ज़िले में प्राप्त एक श्मशान-वन में

---

१. Ruddle = गेरू, Hematite = धाऊ (सं० धातु) पत्थर, लाल रंग का भारी पत्थर जिसमें से लोहा निकाला जाता है। बुन्देलखण्ड और बघेल-खण्ड की तरफ पाया जाता है। बुन्देलखण्ड में उसे धाऊ कहते हैं।

२. पाली साहित्य में शिवथिका उस स्थान को कहा है जहाँ मृत शरीर को यों ही गलने-सड़ने को फेंक दिया जाता था (सारत्थ पकासनी, ३।१७)। वैदिक साहित्य में ऐसे शवों को परोप्त कहा गया है। अथर्व (१८।२।३४)

५४ समाधियाँ बहुत से मिट्टी के बरतनों के साथ पाई गई थीं। मद्रास नगर के निकट पट्टवरम स्थान में प्राप्त मिट्टी के थूहों में पकाई मिट्टी की शवमंजूषा (ताबूत) मिली थीं, जिनका आकार स्त्रियों के लिए लम्बोतरा और पुरुषों के लिए चिता-जैसा था। इनमें शव सिकोड़कर रखा जाता था। मद्रास के दूसरे ज़िले, जैसे चिंगलपुट, नेल्लूर, आर्कट आदि में इसी तरह के मिट्टी के बने कुछ लम्बे ताबूत मिले हैं, जिनके साथ कभी-कभी लोहे के औज़ार भी पाये गए हैं। पत्थर की शिलाओं से निर्मित समाधियाँ या स्थाणु-संज्ञक निखात-स्थान (मैगेलिथिक टूम्ब) मद्रास, बम्बई, मैसूर और हैदराबाद (दक्षिण) राज्य में बहुतायत से मिली हैं, किन्तु उनमें प्राप्त लोहे के औज़ारों से वे नव-प्रस्तर-युग की ज्ञात होती हैं। उनमें शवों के अन्तिम दाह के चिह्न भी मिले हैं। नव-प्रस्तर-युग में किसी पात्र में शवों की अस्थि निखात करने की प्रथा भी थी[1]। इन घड़ों में शव-दाह के बाद की बची हुई राख या धूल न रखकर सारे शव को ही तोड़-मोड़कर या काट-छाँटकर रख देते थे। ताम्रपर्णी नदी के किनारे, तिन्नवल्ली ज़िले के आदिच्चनल्लूर नामक स्थान में ११४ एकड़ भूमि का एक बड़ा श्मशान-वन पाया गया है, जहाँ प्रत्येक एकड़ में लगभग एक हज़ार घड़े गड़े हुए पाये गए थे। इस श्मशान-भूमि या पितृ-वन के कुछ भाग नव-प्रस्तर-युग के थे जैसा कि वहाँ मिले हुए पत्थर के औज़ारों से ज्ञात होता है, किन्तु अधिकांश भाग उसके बाद का है जैसा कि लोहे के औज़ार और काँसे और सोने के गहनों से ज्ञात होता है। सिन्ध के ब्राह्मणाबाद स्थान में भी घट-निखात-विधि के चिह्न पाये गए हैं।

ताम्र-युग—पाषाण-युग के बाद दक्षिण भारत में लोह-युग और उत्तर भारत में ताम्रयुग का आविर्भाव हुआ। भारतवर्ष में लोह-युग से पहले कांस्य-युग का क्रमिक विकास नहीं पाया जाता। सिन्ध प्रान्त इसका अपवाद है, जैसा कि आगे ज्ञात होगा। कांसा या फूल नौ-भर तांबा और एक-भर रांगा मिलाकर बनाया जाता है[2]। दक्षिण भारत की प्राचीन समाधियों में प्राप्त कांसे की वस्तुओं में फूल के प्याले या कटोरे-जैसी नफीस चीजें भी मिली हैं, जो या तो बाद की हैं या अन्यत्र से वहाँ लाई गई थीं। तांबे के हथियारों का सबसे बड़ा ज़खीरा मध्य-

१. इसे प्राचीन वैदिक परिभाषा में चमूषद कहते थे।

२. हिन्दी की एक लोकोक्ति है—

सौ सत्ताइस कांसा नहीं तो सन्यासा। अर्थात् सौ-भर तांबे में २७-भर रांगा मिलाने से अच्छा कांसा बनता है। कहा जाता है कि अत्युत्तम फूल के लिए ८६-भर ताँबा, २६-भर रांगा और २-भर चाँदी होनी चाहिए।

भारत में गुंगेरिया नामक गाँव में पाया गया है। इसमें ४२४ तांबे के औज़ार थे जो आयरलैंड में मिले हुए औज़ारों से बहुत मिलते हैं और २००० ईस्वी पूर्व के समझे जाते हैं। इस निधि में १०२ चाँदी के गोल टुकड़े और एक बैल का सिंगैल सिर भी था। चाँदी तो इस देश में कम थी और सम्भवतः वह आयात में लाई गई थी, पर तांबा भारत में प्राप्त होता है और ऋग्वेद में वर्णित लोह अयस् से उसकी एकरूपता मानी जाती है। गुंगेरिया से प्राप्त ताम्रिक अस्त्रों के अलावा तांबे के ही बने हुए बारीक औज़ार, मछली मारने के बरछे, तलवारें और भाले के अग्रभाग कानपुर, फतेहगढ़, मैनपुरी और मथुरा के ज़िलों में पाये गए हैं। उनका विस्तार प्रायः सारे उत्तरी भारत में हुगली से सिन्धु-नद तक और हिमालय की तराई से कानपुर ज़िले तक पाया गया है।

लोहे का प्रयोग—दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर में लोहा पहले व्यवहार में आया जैसे कि मिश्र की अपेक्षा बावेरू में उसका प्रयोग पहले शुरू हुआ। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है, जोकि २५०० ई० पू० से बाद का नहीं कहा जा सकता। हीरोदोत का कथन है कि जो भारतीय सिपाही ईरानी सम्राट् खयार्ष (ज़रकसीज़) की कमान में यूनान के विरुद्ध ३२५ ई० पू० में लड़े थे, उन्होंने अपने धनुष के साथ लोहे की नोक या फाली लगे हुए बेंत के बाणों का प्रयोग किया था। बाद में जब सिकन्दर के साथ भारत में युद्ध हुआ तब से यूनानी लेखकों के कथनानुसार भारतवासी लोहे और फौलाद के काम में यूनानियों जैसा ही कमाल रखते थे। उनका कहना है कि पंजाब के किन्हीं शासकों ने सिकन्दर को सौ टेलेन्ट (एक यूनानी तोल, लगभग २८ सेर या ५७ पौंड) बढ़िया भारती फौलाद भेंट में दी थी।

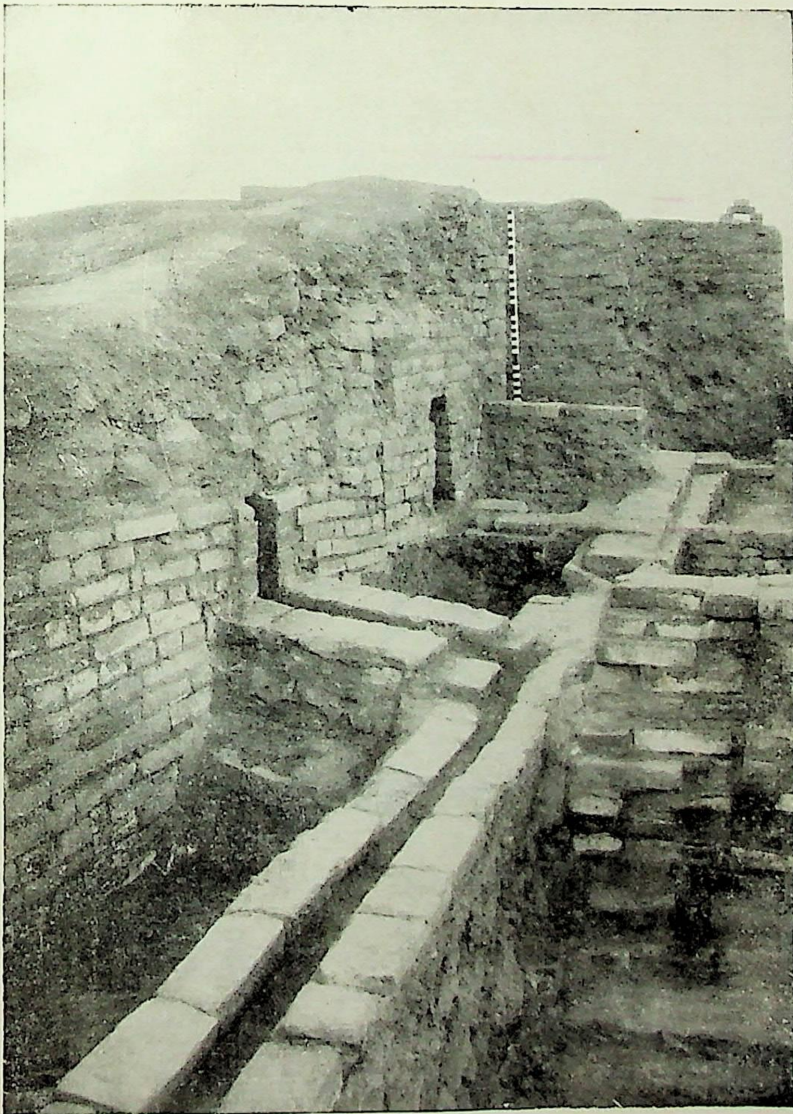
सिन्धु सभ्यता (लगभग ३२५०–२७५० ई० पू०)—प्राग् ऐतिहासिक संस्कृतियों के यत्किञ्चित् अवशेष ही भारत-भर में बिखरे मिले हैं, किन्तु प्रामाणिक और ठोस सामग्री का एक बृहद् भण्डार पुरातत्त्व की खुदाई में सिन्धु-नद की उपत्यका में हड़प्पा (लाहौर और मुलतान के बीच रावी की एक पुरानी धारा के तट पर बसा हुआ एक पुराना स्थान जिसका प्राचीन वैदिक नाम सम्भवतः हरि-यूपिया था) एवं मोहेंजोदड़ो (सिन्धी मोयां-जो-दड़ो 'मरे हुओं की ढेरी या टीला' ज़िला लड़काना सिन्ध) स्थानों में पाया गया है। इस सामग्री से विदित होता है कि किसी समय उस प्रदेश में जो अब की अपेक्षा अधिक हरा-भरा और जल-सिंचित था एक सर्वांग सभ्यता का विकास हुआ था जिसे सिन्धु-सभ्यता का नाम दिया जा सकता है। उस प्राचीन काल में सिन्ध-प्रदेश में वर्षा अधिक होती थी; जैसा कि मेह बूँदी के लिए खुली हुई भीतों और गृह-भागों में लगी हुई पक्की

ईंटों से, नींव में छिपी हुई कच्ची ईंटों की भराई से, एवं घने जंगलों में रहने वाले पशुओं के मुद्रा चित्रों से, या नगर में पानी के बहाव के लिए बनी हुई नालियों से सिद्ध होता है। न केवल सिन्धु नदी अपनी शाखा-प्रशाखाओं के जल से इस प्रदेश को सींचती थी, बल्कि चौदहवीं शती तक चालू मिहरान नामक दूसरा बड़ा नद भी, पंजाब की पाँचों नदियों की जल-राशि आपस में समेटकर, इसे सींचता था। ये दोनों धाराएँ सिन्धु-तट की संस्कृति के फूलने-फलने में योग देती थीं, जिसके कारण प्राचीन सिन्धु प्रान्त नदी मातृक बना हुआ था। पड़ोस के प्रदेश दक्षिणी बलूचिस्तान में भी, जो अब सूखा पड़ा हुआ है श्री आरिल स्टाइन को समृद्ध और बड़ी प्राग् ऐतिहासिक बस्तियों के अवशेष मिले थे। सिन्ध-प्रान्त (जिसका प्राचीन नाम सौवीर था) की यह समृद्धि पाँचवीं शती में ईरान के हखामनि सम्राट् दारा के समय तक, एवं चौथी शती में सिकन्दर के समय तक, बनी रही, जब कि यहाँ मुचकर्ण नामक वीर क्षत्रिय जाति का राज्य था। मोहेंजोदड़ो के घरों की ऊँची कुरसियों से ज्ञात होता है कि उस समय भी यहाँ बाढ़ों का डर रहता था।

मोहेंजोदड़ो की भूमि में बीस से सत्तर फुट तक के ऊँचे टीले हैं। टीलों की चोटी से लेकर धरती के नीचे की पानी की सतह तक निखनन करते हुए अवशेषों की सात तहें मिली हैं जिनमें ऊपर की तीन परत उत्तर-युग, बीच की तीन मध्य-युग और अन्तिम सातवीं पूर्व-युग की हैं। भूमि से लगभग चालीस फुट नीचे सातवीं तह के भी उस पार और भी स्तर थे जो अब भूमिलीन जल के नीचे आ गए हैं। खुदाई में प्राप्त स्तर जिस उन्नत सभ्यता का परिचय कराते हैं उसका मूल और आरम्भ लगभग एक सहस्र वर्ष प्राचीनतर होना चाहिए।

उसके अवशेष : इमारतें—वहाँ रहने के घर, पूजा के स्थान और स्नान-कुण्ड पाये गए हैं, जो रहन-सहन और धार्मिक कृत्यों के लिए प्रयुक्त होते थे।

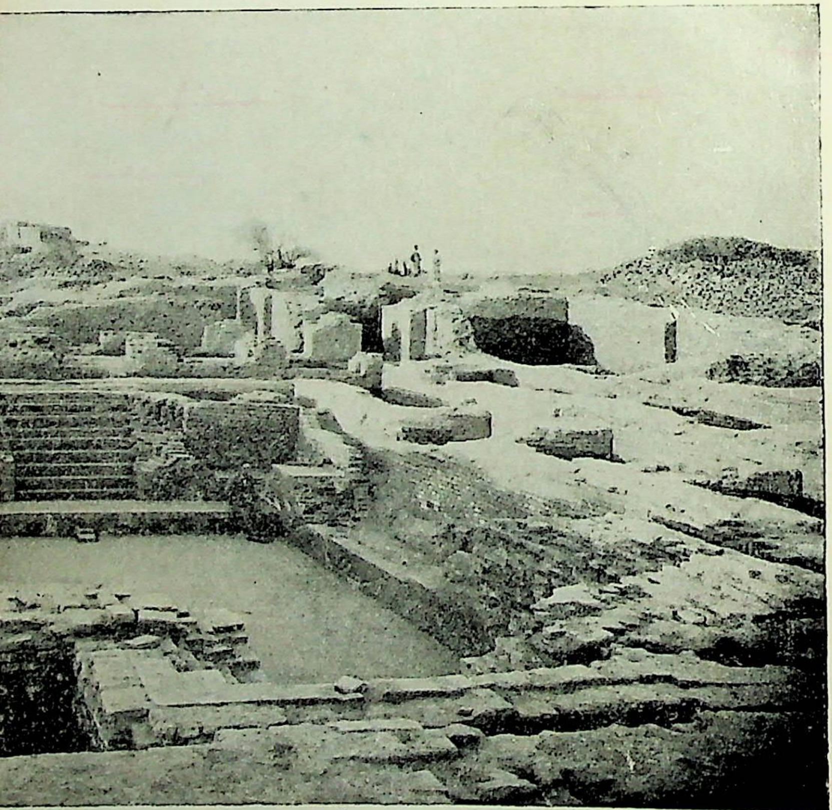
दो कोठरियों के छोटे घरों से लेकर बड़े महल तक मिले हैं जिनका अगला भाग पचासी फुट लम्बा और जिनकी चौड़ाई सत्तानवे फुट है। इन घरों में प्रवेश-द्वार, उसके पास की बैठक का बड़ा कमरा, द्वारपाल की कोठरी, ३२ फुट का चौकोर आँगन, भूमितल और ऊपर के तल में कमरे थे जिनमें ईंटों का खड़ंजा या फर्श रहता था। उनमें ऐसी ढकी हुई नालियाँ मिली हैं जो कोठे पर से नलों के द्वारा आँगन में उतरती थीं और आँगन में फर्श के नीचे ढकी हुई नाँदों के साथ मिली रहती थीं और इस प्रकार जिनमें मैला बहाने का प्रबन्ध था। कुछ बहुत बड़ी और कितने ही कमरों वाली इमारतें मिली हैं जिनसे मन्दिरों का भान होता है। ६० फुट का चौकोर ईंटों के बीस खम्भों पर खड़ा हुआ एक कमरा या अस्थान-



सिन्धु सभ्यता के अवशेष (लगभग ३२५०–२७५० ई० पू०)

मोहेंजोदड़ो में नालियाँ

[पृष्ठ १६ के सामने



बृहत् स्नान-गृह

के सामने]

मंडप मिला है जो मध्य-युग का था।

किन्तु सबसे निराली इमारत एक बृहत् स्नान-गृह था जिसके कई भाग थे और जिसमें नियमित जल-विहार का प्रबन्ध था। इसमें निम्नलिखित हिस्से या भाग थे—(अ) एक चौकोर आँगन जिसके चारों ओर बरामदा घूमा हुआ था और दालान के पीछे कोठरियाँ या कमरे थे; (आ) आँगन के बीच में एक स्नान-कुण्ड था जो ३९ फुट लम्बा, २३ फुट चौड़ा और ८ फुट गहरा था, एवं जिसमें उतरने के लिए कोनों पर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं; (इ) पास में कुएँ हैं जहाँ से जल-कुण्ड में जल भरा जाता था; और (ई) उसके ऊपर की मंजिल में काठ के कमरे बने हुए थे, जैसा कि उनके जले हुए कोयलों से ज्ञात होता है। इस मज्जन-गृह की रचना उस समय के वास्तु-कौशल को प्रकट करती है। कुण्ड की चारों ओर की दीवार और नींव ऐसी पक्की बनी थी कि किसी प्रकार पानी का रिसना सम्भव न था। सबसे पहले चार फुट चौड़ा ईंटों का डंडा था जिसकी छिली हुई ईंटें आपस में ठुककर मिली हुई थीं और जिनकी जुड़ाई गच-चूने से की गई थी। इस डंडे के पीछे इंच-भर मोटा डामल का पलस्तर था जो आल या सील को रोकता था। इसके पीछे पक्की ईंटों की पतली तह थी; फिर खंजड़ और झाँवा ईंटों का खड़ा भराव था और सबसे पीछे कुण्ड को चारों तरफ से घेरे हुए पक्की ईंटों की चौकोर दीवार थी। इसीलिए तो पाँच सहस्र वर्ष पुराना यह जल-कुण्ड अब तक इतना सुरक्षित रह सका।

जल-कुण्ड से मिला हुआ एक हम्माम या उष्ण वायु-कृत मज्जन-गृह था, जिसमें नीचे डंडों पर बने हुए फर्श और गरम हवा के लिए खुले हुए घमायले कमरे को गरम करने के लिए थे।

अन्य अवशेष, शिल्प और कला—इन प्राचीन पुरों की उन्नति कृषि और व्यापार पर निर्भर थी। खुदाई में गेहूँ और जौ[1] के नमूने मिले हैं। अनाज पीसने

---

१. विशेष परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि मोहेंजोदड़ो का गेहूँ उसी प्रकार का है जैसा कि अभी पंजाब में होता है। यह निश्चित नहीं कि मनुष्य ने सबसे पहले जो अन्न खेती में उत्पन्न किया वह जौ था या गेहूँ। ये दोनों अन्न मिस्र देश की सबसे पुरानी समाधियों में मिले हैं। मोहेंजोदड़ो में जो जौ मिला है वह उसी जाति का है जो मिस्र में राजवंश से पूर्व के शव-स्थानों में मिला है। ऐसा माना जाता है कि गेहूँ और जौ की उत्पत्ति एशिया में हुई, (देखिए, श्रीयुत पीक का सभापति भाषण; रायल एन्थ्रोपॉलॉजीकल इन्स्टीट्यूट की पत्रिका, १९२७)।

के लिए चक्की के गोल पाट तो नहीं मिले किन्तु दरदराने की सिलें और बीच में से कुछ झुके हुए दलैटे पाये गए हैं (घोड़े के जीन की आकार की होने के कारण इन्हें अंग्रेजी में saddle-quern कहा जाता है)। खजूर की गुठलियों से उसकी उपज भी सिद्ध होती है।

सिन्धु उपत्यका के भोजन में कई तरह का मांस भी सम्मिलित रहा होगा जैसे भेड़, बकरी, सुअर, गाय, बैल, मुर्गे-मुर्गी, घड़ियाल, कछुए, मछली आदि, जो नदी और समुद्र में होते थे। खण्डहरों में इनकी हड्डियाँ पाई गई हैं। अस्थि-पंजर के अवशेष बताते हैं कि निम्नलिखित पालतू पशुओं का लोगों को परिचय था—बैल, भैंसा, भेड़, हाथी, ऊँट, सुअर, मुर्गी, और सम्भवतः कुत्ता भी (जिसके मिट्टी के खिलौने मिले हैं) एवं घोड़ा।

निम्नलिखित जंगली जानवरों के चिह्न मिले हैं—नेवला, (shrew), जंगली चूहा, हिरन एवं अर्ना भैंसा, गैंडा, बाघ, बन्दर, रीछ और खरगोश। इनके मिट्टी के खिलौने पाये गए हैं।

धातुएँ और खनिज द्रव्य—चाँदी, सोना, ताँबा, राँगा, सीसा, इन धातुओं का लोगों को परिचय था, किन्तु लोहा बिलकुल अज्ञात था। वहाँ के सोने में एक विशेष प्रकार के चाँदी के अंश की मिलावट है जो अवश्य ही व्यापार के द्वारा दक्षिण भारत की कोलार और अनन्तपुर की खानों से लाया गया होगा, क्योंकि वहीं ऐसा सोना मिलता है। सोने से भाँति-भाँति के गहने बनाए जाते थे। ताँबा और सीसा राजपूताना, बिलोचिस्तान या ईरान से, जहाँ वे पास-पास होते थे, लाए जाते थे। इस समय पत्थर का स्थान ताँबे ने ले लिया था जिससे भाले का अग्र-भाग, छुरी, चाकू, कुल्हाड़ी रुखानी आदि औजार और हथियार एवं कड़े, कानों की बाली आदि आभूषण बनने लगे थे। ताँबा यहाँ पर ३,००० वर्ष ई० पू० से भी पुराने स्तरों में मिला है। तांबा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल में निकाला जाने लगा था और काम में आने लगा था। यह मुंगेरिया से प्राप्त ताँबे के बने हुए ४२४ पिटवाँ औजारों से ज्ञात होता है जैसा ऊपर कहा जा चुका है।

राँगा[1] अलग से काम में न लाया जाता था बल्कि ६ से १३ प्रतिशत भाग को ताँबे में मिलाकर काँसा बनाते थे। ताँबे की अपेक्षा काँसा तेज धार या तैयारी की सफाई के विचार से बढ़िया माना जाता था। सबसे नीचे के स्तर में मिलने से यह अनुमान है कि ३,००० ई० पू० से पहले वह प्रयोग में आ चुका था। इससे इस बात का निराकरण हो जाता है कि भारत में कांस्य-युग का अस्तित्व न था। सिन्ध के लिए रांगा भारत के बाहर उत्तरी ईरान और पश्चिमी

---

१. इसे संस्कृत में कास्तीर और राजस्थानी में कथीर कहते हैं तथा अंग्रेजी में टिन।

अफगानिस्तान से बोलन दर्रे से लाया जाता था। भारत में केवल हजारीबाग जिले में वह मिलता है, किन्तु इतनी दूर से सिन्ध निवासियों के लिए उसका निकालना सम्भव नहीं था। घर बनाने एवं अन्य कार्यों के लिए अनेक पत्थर काम में आते थे जो दूर और निकट के स्थानों से मँगाए जाते थे। मोरियों पर ढकने के लिए सक्खर का सफेद खड़िया पत्थर (लाइम स्टोन) काम में आता था। खीर्थर पहाड़ से चूना फूँकने का गच पत्थर (जिप्सम) और जाली के परदे, गिलास-कटोरी और मूर्ति बनाने के लिए सेल-खड़ी (अलाबास्टर; इसे संग जराहत भी कहते हैं) लाई जाती थी। पास-पड़ोस के कड़े पत्थर जैसे नीस और बैसौल्ट सिल, गहरे दलैटे, दरवाजों की देहलियाँ और बट्टे बनाने के काम में आते थे। चकमक (chert) को काटकर और चिकना करके उसके घाट और बट्टे बनाए जाते थे या उसकी कतरनों से चाकू बनाते थे। घिया पत्थर (Steatite) से मुहरें और मूर्तियाँ बनाते थे। जैसलमेरी संगखट्टू की मूर्तियाँ और पूजा के लिए लिंग और चकिया के आकार की योनियाँ बनाई जाती थीं। हारों के मनके और जड़ाऊ गहनों के काम में अनेक प्रकार के संग प्रयोग में आते थे जैसे स्फटिक, धाऊ, अकीक (Carnilian), संग अजूबा (Jasper), यशब (Agate) एवं संग-सुलेमानी (Onyx)। एक विशेष प्रकार का सुन्दर हरे रंग का भीष्मक पत्थर (Amazon stone) नीलगिरि पर्वत के दुट्टा-बित्ता की खानों से, जो भारत में उसका एकमात्र स्रोत है, आता था। संगकठैला (Amethytes) दक्षिण के पठार से आता था। लाजवर्द (Lapis Lazuli) राजावर्त (बन्दकशां) से, ईरोजा (Turquoise) खुरासान से, एवं कड़े प्रकार का मरगज (Hard Jade या Jadite; सं० मसार या अश्नसार) पामीर, पूर्वी तुर्किस्तान या तिब्बत से आता था।

हड्डी, हाथीदाँत, सीप और पकाई हुई सोफयानी मिट्टी (Faienceसे भी चीजें बनाई जाती थीं। शुक्ति भारतीय समुद्र-तट से, ईरान की खाड़ी या लाल सागर से लाई जाती थी। मोहेंजोदड़ो के घरों में तकुओं के दमकड़े बड़ी संख्या में मिले हैं, जिससे ज्ञात होता है कि कताई का सर्वसाधारण में प्रचार था। अमीर-गरीब सभी में उसका चलन था जैसा कि सोफयानी मिट्टी के मूल्यवान् दमकड़ों एवं सस्ते मिट्टी या सीपी के बने दमकड़ों से मालूम होता है। ऊन और रुई दोनों से कपड़े बनाए जाते थे। चाँदी के एक पात्र के भीतर चिपटा हुआ सूती कपड़े का टुकड़ा मिला है। विशेषज्ञों द्वारा उसकी परीक्षा से ज्ञात हुआ कि वह आजकल की मोटे तार वाली भारतीय रुई से मिलती है जिसकी भीतरी रचना मरोड़दार होती है। इसी भारतीय रुई को बेबीलन (प्राचीन बबेरु) के निवासी सिन्धु और यूनानी सिंदन (Sindon) कहते थे। यह असली रुई थी,

न कि सेमल के पेड़ पर उत्पन्न भुए की रुई, जैसा कि अब तक समझा जाता था।

उस समय के वेश में लोग एक लम्बा दुशाला ऊपर ओढ़ते थे जैसा कि दो मूर्तियों में पाया गया है। पुरुष छोटी खसखसी दाढ़ी और गलमुच्छें रखते थे और सुमेर की भाँति होठ के ऊपर के बाल प्रायः सफाचट करा लेते थे। बालों को माथे की ओर से पीछे की ओर बहाकर या तो पट्टों के रूप में कतरकर रखते थे, या जूड़ा बाँध लेते थे और एक पट्टी से बाँधकर रखते थे। सिर के ऊपर चिपकी हुई टोपी, जिसमें पीछे नोक उठी हो, पहनी जाती थी, अथवा बेले हुए किनारों वाली कुछ बड़ी टोपी पहनी जाती थी। नर्तकी स्त्रियों की कांस्य मूर्तियों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ बालों का एक बड़ा जूड़ा बनाकर बाएँ कान के पास से दाहिने कन्धे के पास लटका लेती थीं। गहनों में मुख्यतः चोटीचक्क, सीसफूल, माँगपट्टी, माथे की केशान्त रेखा के पहनने के लिए पात (fillet)[१], मटरमाला, गुलूबन्द, हार, बाजूबन्द या भुजबन्द, अंगूठियाँ (पुरुष-स्त्री दोनों के लिए), करधनी, कानों की बालियाँ और नूपुर थे। धनी सोने-चाँदी, हाथीदाँत, नग और सोफ़यानी मिट्टी के गहने पहनते थे। निर्धन शंख, हड्डी, ताँबे और मिट्टी के गहनों से काम चलाते थे। अकीक को चतुराई से बेधकर उसकी गुरियों को पुहकर करधनी बनाते थे।

सिन्धु-सभ्यता ताम्र-युग में थी, यह इससे ज्ञात होता है कि पत्थर के हथियार और औजारों के साथ-साथ ताँबे या कांसे के औजार भी पाये गए हैं। लड़ाई और शिकार के हथियारों में धनुष-बाण, भाला, कुल्हाड़ी, छुरी और गदा मिली है। तलवार और अंग-रक्षक कवच का आविष्कार तब तक नहीं हुआ था। औजारों में बसूला, हंसिया, आरी, रुखानी और उस्तरे थे, जो ताँबे और काँसे के बनते थे। चाकू और कतरने की पत्तियाँ इन दो धातुओं की एवं चकमक या दूसरे कड़े पत्थरों की बनाई जाती थीं। तश्तरी, प्याले, कलसिया, सिंगारदानी डिबियाँ या तश्तरियाँ (Palettes) और तोलने के बट्टे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि पाषाण या ताम्र-युग के ढंग की दस्तकारी की वस्तुएँ बहुत पीछे छूट चुकी थीं।

मारने और बचाव के हथियारों की कमी से ऐसा ज्ञात होता है कि सिन्धु-सभ्यता के लोग लड़ाकू न थे और बाहरी आक्रमण की आशंका भी उन्हें कम ही थी।

सिन्धु से मिले हुए बट्टे रोचक हैं। छोटे चकमक या सलेट के बट्टे चौकोर हैं, बड़े तिकोनियाँ हैं। इलम और ईराक के बट्टों की अपेक्षा सिन्धु घाटी के बट्टे

१. पात गहने का रिवाज मारवाड़ी स्त्रियों में अभी तक है। यह पिटी हुई सोने की बहुत लम्बी, पतली पत्ती होती है।

कहीं अधिक सच्चे और एक-सी चाल के हैं। शूषा से प्राप्त बट्टों की तरह उनका क्रमिक अनुपात आरम्भ में दुचन्ती और आगे चलकर दशमलव आधार पर हो गया है, जैसे १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२०, ६४०, १६०० । सबसे अधिक चालू बट्टा सोलह अनुपात वाला था जिसकी तौल १२०.८६८[1] रत्ती (१३·७१ ग्राम) थी। घरेलू बरतन-भाँडे प्रायः मिट्टी के, भाँति-भाँति के प्रकार और आकृति के, बनाए जाते थे जैसे खड़ी पुजापेदानी, पीने के आबखोरे, झाँझरी, अँगीठियाँ, अनाज रखने के बड़े मटके आदि। ढेर-के-ढेर आबखोरे या कुल्हड़ों से ज्ञात होता है कि सिन्ध के लोग एक बार पीकर कुल्हड़ फेंक देते थे, जैसा कि हिन्दू अब भी करते हैं।

सिन्धु घाटी के बरतन प्रायः चाक पर बने हुए हैं, जिन पर लाल-काली रेखाओं के अंकन बने हैं। कुछ पर मिट्टी में रेखाएँ खींची या खोदी गई हैं, कुछ बहुरंगी या बत्तीदार (Polychrome) हैं। सिन्धु-घाटी के रोगनदार बरतन बहुत उम्दा बने हैं और समस्त संसार में अपने ढंग के अति प्राचीन हैं। ईराक में वे १००० ई० पू० के लगभग बनाये गए थे और मिस्र में उसके भी बाद।

मिट्टी के खिलौने भी बहुत तरह के बनाए जाते थे, जैसे झुनझुने, चिड़ियों के आकार की सीटियाँ, पुरुष स्त्री, चिड़ियाँ और बच्चों की गाड़ियाँ। चिड़ियों को पहियों के ऊपर बिठाया गया है और गाड़ियों में बैलों की जोड़ियाँ जुती हैं। ये गाड़ियों के पुराने नमूने उसी तरह सबसे पुराने हैं जैसा कि उर से प्राप्त शिला-पट्ट पर अंकित रथ का नमूना सबसे पुराना माना जाता है (वूली के मतानुसार ३२०० ई० पू०)।

सिन्धु उपत्यका के लोगों ने लिखने का भी आविष्कार किया था। वे एक प्रकार की लिपि काम में लाते थे जो उस काल की अन्य लिपियों (जैसे आरम्भिक एलम, प्राचीन सुमेर, क्रीट और मिस्र) के समान कुछ चित्रात्मक ढंग की है। इस लिपि में ३९६ चिह्न हैं। इसके लेख मुद्रा मात्रिकाओं में, मुहरों पर, बरतन के ठीकरों पर, ताँबे के छोटे टुकड़ों पर और मिट्टी के कड़ूलों पर पाये गए हैं। कई चिह्नों से मिलाकर शब्द बनाये गए हैं और अक्षरों में मात्राएँ भी लगी हुई जान पड़ती हैं। कई लकीरों को मिलाकर, जिनकी संख्या १२ तक पहुँचती है चिह्न बनाये गए हैं जो अंक की अपेक्षा अक्षर जान पड़ते हैं। यह लिखावट दाएँ से बाईं ओर चलती है। सम्भव है कहीं समाप्त होती हुई पंक्ति को जारी रखने के लिए बाईं ओर से भी पंक्ति को आरम्भ किया गया है। लिपि-चिह्नों की अधिक संख्या बताती

---

१. रत्ती = १·७५ ग्रेन, एक रत्ती की तौल १·८ ग्रेन मानने से यह बट्टा ११७·५७ ग्रेन के बराबर होगा।

है कि सिन्धु की लिपि अक्षर पर आश्रित न होकर ध्वन्यात्मक वर्णों पर आश्रित है।

यहाँ के अवशेष और पुरानी वस्तुओं में प्रायः उस सजावट का अभाव है जिसमें कला की उत्पत्ति होती है। लेकिन कुछ मुद्राएँ और तावीज अवश्य कलात्मक हैं, जैसे मुहरों पर बने हुए ककुद्मान् वृषभ, भैंसे और गौर (जंगली या अर्ना भैंसे)। इसी प्रकार मिट्टी के नटिया बैल, घिया पत्थर का बड़ा कुत्ता, बैठा हुआ मैंढ़ा, गिलहरी और बन्दर भी सुन्दर हैं। ये आकृतियाँ वास्तविक जैसी हैं।

मनुष्यों की सुन्दर मूर्तियों की संख्या अधिक नहीं मिली। मिट्टी की बहु-संख्यक मानवी मूर्तियों में कला का अभाव मानना पड़ेगा। पत्थर की मूर्तियाँ कम हैं। उनमें केवल तीन उल्लेखनीय हैं—एक योगी की जिसके ध्यान-मग्न नेत्रों की दृष्टि नासाग्र पर है। एक मानव-मस्तक है जो किसी की प्रतिकृति जान पड़ता है। उसकी कनपटी उभरी हुई, मुँह चौड़ा, होंठ पतले और कान भद्दे एवं सीपीनुमा हैं। तीसरी बैठी हुई मूर्ति पुष्पपट्ट ओढ़े हुए है। नृत्य करती हुई स्त्री की काँसे की मूर्ति भी उल्लेखनीय है, जिसकी भुजाएँ और टाँगें कुछ अधिक लम्बी हैं और जिसके पैरों की मुद्रा तालात्मक है। हड़प्पा में दो विलक्षण मूर्तियाँ मिली हैं—एक लाल पत्थर की (जो कहीं दूर से लाया गया था), जिसकी माँस-पेशियों को यथावत् अंकित किया गया था और दूसरी मूर्ति गहरे रंग के सलेटी पत्थर की है, जिसमें पुरुष नर्तक अपने दाहिने पैर पर खड़ा है और बायाँ पैर उठाये हुए है, जो शिव नटराज का पूर्वरूप ज्ञात होता है। शरीर-गठन की हूबहू प्रतिकृति के अपने गुण से ये दोनों मूर्तियाँ यूनानी कला को बहुत पहले ही पीछे छोड़ देती हैं, जिस प्रकार मुहरों पर बनी हुई पशुओं की आकृतियाँ यूनानी कला में बने हुए पशुओं को बहुत पहले ही प्रतिबिम्बित करती हैं।

धर्म—मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की प्राप्त सामग्री इस विषय में थोड़ी है। मिट्टी की बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं, जो बिलोचिस्तान में मिली हुई मूर्तियों से मिलती हैं, यद्यपि ये पिछली मूर्तियाँ पूरे शरीर की नहीं हैं।

सिन्धु उपत्यका और बिलोचिस्तान से प्राप्त स्त्री मूर्तियों से मिलती-जुलती मूर्तियाँ पश्चिमी एशिया, भूमध्य सागर के इजियन तट, एलम, मेसोपोटामिया, कैस्पियन समुद्र का ऊपरला भाग, एशिया माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, साइप्रस, क्रीट, यूनान के किक्लेट द्वीप-समूह, बालकन और मिस्र आदि देशों में बहुसंख्या में पाई गई हैं। बहुसम्मत विचार के अनुसार ये महामातृदेवी (महीमाता), या मातृ रूप में स्थित प्रकृति की मूर्तियाँ हैं। यह भारत की धार्मिक अनुश्रुति के अनुकूल ही है, जहाँ अनादि काल से मातृदेवी आद्याशक्ति या प्रकृति की पूजा



शिव पशुपति

पृष्ठ २३ के सामने]

प्रचलित रही है, जैसे वेदों में पृथ्वी (ऋग्वेद् ६,१२,५; १०,१८७,२) या पृथिवी (ऋ० ५,८५,१-५;७,७,२-५) भी कहा गया है। यही ऋग्वेदों के आदित्यों की माता अदिति है। आर्य और अनार्य दोनों प्रकार की भारतीय प्रजा भुइंयों आदि ग्राम-देवियों से लेकर आज तक इसी अम्बिका या मातृदेवी के नाना रूपों की पूजा करती आई है।

हड़प्पा से प्राप्त एक लम्बी मुहर पर पृथिवी या मातृदेवी का चित्र है, जिसकी योनि में से एक अंकुर निकल रहा है और पास में हाथ में छुरी लिये एक पुरुष और हाथ ऊपर उठाये हुए एक स्त्री, जो सम्भवतः देवी की बलि के लिए थी, अंकित की गई है।

इतिहासकालीन शिव के आरम्भिक रूप में एक पुरुष देवता की मूर्ति मिली है, जिसके तीन मुँह और तीन नेत्र हैं। वह योगासन में नीची चौकी पर बैठी हुई है और उसके दोनों ओर पशु अंकित हैं—दाहिनी ओर हाथी और बाघ एवं बाईं ओर गेंडा या भैंसा। चौकी के नीचे हिरण-जैसा दो सींगों वाला एक पशु है। इससे उसकी संज्ञा ऋग्वैदिक रुद्र या शिव के समान पशुपति सिद्ध होती है। मृग जंगल का सूचक है, जैसा कि बौद्ध-कला में मृगदाव के दृश्य में, जहाँ बुद्ध ने प्रथम बार धर्मोपदेश किया था, पाया जाता है। इस चित्र में शिव के मस्तक पर दो सींग भी हैं, जो शैवों के त्रिशूल के पूर्वरूप कहे जा सकते हैं। इसी त्रिक से सम्भवतः बौद्धों ने त्रिरत्न की कल्पना की। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सोफयानी मिट्टी की एक दूसरी मुहर पर योगी के आसन में बैठे हुए देवता की एक और मूर्ति मिली है, जिसके दोनों ओर दो नाग अंजलि-मुद्रा में स्तुति कर रहे हैं। एक तीसरी मुहर पर इसी प्रकार की मूर्ति है, जिस पर केवल एक मस्तक है। नासाग्र-दृष्टिवाली मुद्रा में योगी के पत्थर की मूर्ति की मस्तक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

श्री रमाप्रसाद चन्दा (Modern Review 1935) सिन्धु-लिपि के चिह्न क्रमांक ३८३ को खड़े हुए चतुर्भजी देवता का प्रतिरूप मानते हैं, जो उनके विचार में ब्रह्मा, विष्णु, शिव की चतुर्भुजी हिन्दू देव-प्रतिमाओं का पूर्व रूप था।

उन्होंने ६ अन्य मुहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८, आकृति ७, (मार्शल कृति मोहेंजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा-संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभ देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदि-नाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F, G, H, फलक दो, पर अंकित देव-मूर्ति में एक बैल ही बना है; सम्भव है कि यह ऋषभ ही का पूर्व रूप हो। यदि

ऐसा हो तो शैव-धर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्र-युगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु-सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी एक उभय-साधारण सांस्कृतिक परम्परा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है।

शिव और सत्य की पूजा के साथ-साथ लिंग और योनि की पूजा भी प्रचलित थी, जैसा कि इन दोनों की पाषाण-निर्मित असंदिग्ध और असल-जैसी मूर्तियों से ज्ञात होता है, जो सिन्धु उपत्यका और बिलोचिस्तान में बहुसंख्यक चकियों (Ring-stone) के साथ पाये गए हैं। वस्तुतः मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में तीन प्रकार के पूजा के पत्थर—(१) रक्षावीटिका[1] प्रतिमा (२) लिंग, और (३) योनि के आकार की चकियाएँ—पाये गए हैं। रक्षावीटिका या ताबीज की भाँति प्रयुक्त इनके छोटे नमूने बड़ों की अपेक्षा, जो पूजे जाते थे, संख्या में बहुत अधिक हैं। कुछ नमूने इतने छोटे हैं कि वे खेल के मुहरे-से लगते हैं।

उपलब्ध सामग्री से वृक्ष-पूजा के भी दो प्रकार ज्ञात होते हैं। एक वृक्ष के वास्तविक रूप में उसकी पूजा, जैसा हड़प्पा की कुछ मुहरों पर अंकित है। दूसरे में वृक्ष की पूजा न होकर उसके अधिदेवता की पूजा दिखाई गई है। मोहेंजोदड़ो की एक उल्लेखनीय मुहर में देवता की खड़ी हुई एक नग्न मूर्ति है, जिसके दोनों ओर अश्वत्थ (पीपल) की, जो पीछे चलकर बुद्ध का बोधिवृक्ष प्रसिद्ध हुआ, दो शाखाएँ हैं। वृक्ष देवता की पूजा की सूचक, एक पंक्ति में खड़ी हुई, पीठ पर लहराते हुए बालों से शोभित सात स्त्री-मूर्तियाँ हैं जो देवी की पुजारिन जान पड़ती हैं इसी प्रकार वन्दन-मुद्रा में झुकी हुई एक अन्य मूर्ति है, जिसके लम्बे बाल हैं और जिसके पीछे नर के चेहरे वाली वृष-छाग की मिलवाँ मूर्ति है, जो सम्भव है कि अश्वत्थ वृक्ष की देवी का वाहन हो। कुछ अन्य मुहरें भी हैं, जिनमें से एक-पर-एक शृंग पशु के जुड़वाँ मस्तकों से एक वृक्ष अंकुरित होता हुआ दिखाया गया है, एवं हड़प्पा से प्राप्त अन्य मुहरों पर देवी और उसके पुजारी के साथ-साथ छाग या अन्य सींगला पशु अंकित हैं। यह धार्मिक परम्परा भरहुत (साँची) के शिल्प में वृक्ष-देवता के रूप में अंकित यक्षियों में पाई जाती है, किन्तु उनका दर्जा तत्कालीन देव-मण्डली में घटकर है।

मोहेंजोदड़ो में पशु-पूजा का प्रमाण भी मिलता है, जो मुद्रा या मुहरों

---

१. शरीर के साथ रक्षा-सूत्र ताबीज या गंडे की तरह रखे जाने वाली नन्ही मूर्तियों से तात्पर्य है, जैसे शैव शिवलिंग और वैष्णव शालिग्राम पहनते हैं। मोहेंजोदड़ो में भी इस प्रकार के शिवलिंग मिले हैं।

पर बनी हुई आकृतियों में, या खिलौने, सोफयानी मिट्टी या पत्थर की बनी मूर्तियों में मिले हैं। प्रथम कोटि में कल्पनाजन्य मिश्रित आकृति के जन्तु हैं, जैसे ऊपर उल्लिखित मानव-मस्तक से युक्त अज-मूर्ति, अथवा वे पशु जिनका शरीर अज या मेढ़ा, बैल और हाथी के अंगों को मिलाने से बना है, तीन सिर वाला त्रिशिरा दानव, अथवा अर्धनर-अर्धवृष आकृति का जन्तु, जो एक सींगदार बाघ पर प्रहार कर रहा है (चौथी सहस्राब्दी के सुमेर के देवता इअबनी या इउकिदु से मिलता है), अथवा देवता और नागों के मस्तक पर सींगों के अलंकार यही सूचित करते हैं। दूसरी कोटि में वे जन्तु हैं, जिन्हें नितान्त काल्पनिक नहीं कहा जा सकता, जैसे एक श्रृंग और दो श्रृंग वाले पशु जिनके सामने धूपदानी-जैसी कोई वस्तु है, अथवा किसी प्रकार की पूजा करते हुए पशु। तीसरे वास्तविक पशुओं की मूर्तियाँ, जैसे (१) पानी में पोंड़ने वाला सामान्य भैंसा, (२) गौर (यह वैदिक नाम था) या अर्ना भैंसा, (३) ककुद्मान भारतीय बिजार या साँड, (४) गेंडा, (५) छोटे सींगों का बिना खुब्भ का नटिया बैल, (६) बाघ और (७) हाथी। उनमें से कुछ, विशेषतः बाघ, गेंडा और अर्ना सामने रखी हुई नाँद या खोर में से कुछ खाते हुए दिखाये गए हैं, जो इस बात के सूचक हैं कि पूजनीय पशुओं के सामने बलि-भोजन दिया जाता था। अन्त में कुछ अन्य पशु-पक्षियों के चित्र और मूर्तियाँ हैं जैसे मेढ़ा, सुअर, कुत्ता, बन्दर, रीछ, शशक, गिलहरी, तोता एवं अन्य चिड़ियाँ। इनमें से कुछ खिलौने थे और कुछ पूजन के लिए, जैसे तावीज की तरह काम में आने के लिए सोफयानी मिट्टी के बने भेड़ और मेढ़े, एवं गिलहरी और कुत्ते भी उसी ढंग के हैं। इनमें से कुछ पशु अब भी देवताओं के वाहन माने जाते हैं, जैसे शिव का वृषभ, दुर्गा का सिंह, यम का महिष, अग्नि का मेष, इन्द्र का हाथी, हनुमान रूप में कपि, अथवा गौरी का वन्य वराह।

स्नान के द्वारा शौच अथवा संस्कार-विधि से अभिषेक इस धर्म का एक अंग था। मोहेंजोदड़ो में जो स्नान महाद्रोणी मिली है, जो प्राचीन काल के अन्य नगरों की अपेक्षा विशेष रूप रखती है, उससे स्नान के प्रति इनका आस्था-भाव ज्ञात होता है।

सारांश—सिन्धु उपत्यका के धर्म के निम्नलिखित अंग थे—(१) मातृ देवी या शक्ति की पूजा; (२) एक शिव के पूर्वरूपी पुरुषदेवता की पूजा; (३) निजी रूप में, आधे नर आधे पशुरूप में, या कल्पनाजनित रूपों में पशुओं की पूजा; (४) वास्तविक वृक्षों अथवा उनकी अधिष्ठात्री वृक्ष-देवताओं की पूजा; (५) लिंग और योनि के प्रतीकों की पूजा; (६) अर्थ-साधना (Chrematheism) जो कि पवित्र 'धूप-पात्रों' की पूजा में प्रतिबिम्बित होती है; (७) रक्षावीटिका (तावीज) और गंडों में

विश्वास, जो भूत-प्रेत की बाधा के भय को सूचित करते हैं; और (८) योग का अभ्यास। इन विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि यह धर्म कुछ बाहरी अंगों के होते हुए भी मुख्यतः इसी धरती की उपज थी और हिन्दू-धर्म का पूर्व रूप ही था, जिसमें आज तक उपरोक्त कई विशेषताएँ पाई जाती हैं, जैसे, शिवशक्ति की पूजा, नाग, पशु, वृक्ष और पाषाण (स्थूण) की पूजा एवं लिंग-योनि की प्रतीक-पूजा तथा योग।

मृतक व्यवस्था—सिन्धु-सभ्यता के लोग अपने शव जलाते थे। यह बात उन भस्म रखने के बरतनों से सूचित होती है, जिनमें मनुष्यों की जली हुई हड्डियाँ या फूल और चिता की राख रखी मिली है एवं जिनके साथ पितरों को दी हुई बलिसहित छोटे-मोटे पात्र या परलोक में पितरों के काम में आने वाली कुछ सामग्री रखी हुई मिली है। ऐसे घड़े भी मिले हैं जिनमें बलि देने की कुल्हिया या हंडियाँ और मृतकोपयोगी अन्य वस्तुएँ रखी मिली हैं; किन्तु अस्थि या फूल नहीं मिले, जिसका कारण सम्भवतः यह था कि दाह के बाद चिता में से फूल चुन-कर उसका चूरा करके उसे प्रवाहित कर देते या छितरा देते थे, जैसा पंजाब में अभी तक होता है। श्री आरिल स्टाइन को बिलोचिस्तान के भिन्न-भिन्न स्थानों में इस प्रकार के अनेक भस्मीपात्र या समाधि के बरतन मिले थे। सर्वांग अथवा आंशिक (शव को पशु-पक्षियों के भक्षणार्थ उघाड़ा रखकर बची-खुची हड्डियाँ एकत्र कर गाड़ने से) रूप में शव निखात या मृतकों के गाड़ने के उदाहरण बहुत कम हैं। सर्वांग निखात के रूप में इक्कीस कंकाल मोहेंजोदड़ो में मिले हैं, सात सार्वजनिक आवागमन के स्थान में और शेष एक कमरे में, जिनमें तीन प्रकार की मानव नस्लों की आकृतियाँ हैं—आदिम निषाद वंशी (Proto-Australoid), द्राविड़ वंशी (Mediterranean) और आर्य-वंशी (Alpine)। शवों के प्राप्त प्रस्तरों से ज्ञात होता है कि वे मोहेंजोदड़ो के अन्तिम ह्रास के युग में गाड़े गए थे। हड़प्पा और बिलोचिस्तान में भी सर्वांगी शव-निखात के सूचक कंकाल मिले हैं, किन्तु वे बाद के हैं।

विस्तार—मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में मिली हुई प्राचीन वस्तुओं से एक ऐसी समान और व्यापक संस्कृति का पता लगता है जिसकी जड़ें सिन्धु और पंजाब में दूर तक फैली हुई थीं। इन प्रदेशों में और भी बहुत से ताम्र-युग के प्राचीन स्थल पाये गए हैं। सिन्ध में अधिकतः रोड़ी और खीर्थर की पहाड़ियों में ताम्र-युग से प्राचीनतर नवपाषाण-युग की सभ्यता के प्रमाण पाये गए हैं; जैसे पत्थर के औजार, चकमक की कतरनें (Flint-flakes) और खर (Cores) एवं निखात शवों

के ऊपर बनाये गए मिट्टी के थूहे या स्तूप (Burrow)[1] और पत्थर के स्थाणु (Cairns) या पत्थर के खड़े-पड़े चीरे।

प्रारम्भ और सम्बन्ध—सिन्धु-उपत्यका की यह सभ्यता एक बृहत्तर हलचल की हिलोर थी जिससे ताम्र-युग में समान प्राचीन सभ्यताओं का पश्चिमी एशिया और ईराक से लगाकर उत्तरी अफ्रीका तक विकास हुआ था और वहाँ की महान् नदियाँ इनकी धात्री बनीं; जैसे मिस्र में नील नदी, ईराक के नदीमात्रिक देशमें उफ्रातु और तिग्रा नदी (Tigres), (वर्तमान दजला का नाम बाबेरु की भाषा में दिजलत और प्राचीन ईरानी में तिग्रा था), पश्चिमी ईरान में कारूँ और करखेह (करका नदी), जिसके कांठे में प्राचीन कर्क जाति रहती थी; और पश्चिमी अफगानिस्तान के सीस्तान (प्राचीन शकस्थान) की हेलमंद (सेतुमंत) नदी। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं यदि सिन्ध (यह इस प्रदेश का वर्तमान नाम है; इसका प्राचीन नाम सौवीर था) और पंजाब की अधिक समृद्ध और विस्तृत नदी द्रोणियों में भी इस प्राचीन सभ्यता ने अपने केन्द्र बनाए थे, अथवा आगे की खोज में गंगा-यमुना तक भी इसके प्रसार के चिह्न मिल जायँ।

इन कई संस्कृतियों की निजी विशेषताएँ हैं। साथ ही एक-दूसरे से मिलते हुए लक्षण भी हैं। उदाहरण के लिए प्रत्येक देश में अपनी भाषा लिखने के लिए अपने-अपने संकेत बने थे। मिस्र देश की चित्रलिपि क्रीट की लिपि से, क्रीट की सुमेर से, सुमेर की एलम् से भिन्न है, एवं अन्यत्र भी। परन्तु लिपियाँ भिन्न होते हुए भी उनमें एक समानता है। वे वस्तुओं और भावों के सूचक चित्रार्थों का ही प्रयोग नहीं करते वरन् वास्तविक ध्वनियों की भी वर्णमाला की तरह उनका प्रयोग करते हैं। ऐसे ही कातने और बुनने की बात है। सिन्धु उपत्यका में रुई और नील के तट पर सन काम में लाते थे, किन्तु बुनने और कातने की कला, जो तत्कालीन सभ्य संसार की समान सम्पत्ति थी, दोनों जगह साथ थी। यही बात चित्रित किये हुए बरतनों के बारे में भी है। प्रत्येक प्रदेश के कुम्हारों के बरतनों की आकृति और अंकान निजी थे किन्तु कुम्हार का चाक और आवे में बरतनों को पकाने और पक्का रंग देने की क्रिया सबको विदित थी। औरों के साथ विचार और क्रियाओं की इस समानता के होते हुए भी सिन्धु-सभ्यता की उसी प्रकार निजी व्यक्तित्व और राष्ट्रीय विशेषता है जैसे उसकी समकालीन अन्य महती

१. Burrow = tila; **पुरातत्त्व-शास्त्र में शव के ऊपर बना हुआ थूहा। इसका प्राचीन अंग्रेजी में रूप था** beorg। **तुलना कीजिए जर्मन भाषा का** berg = **पहाड़; प्राचीन तिऊतन** (bergoz); **आर्य भेर्घ** (bher-gh) := **ऊँचाई।**

नदी-मात्रिक सभ्यताओं की थी ।

सिन्धु-संस्कृति के विशिष्ट भारतीय लक्षण, जिनका उल्लेख अभी हो चुका है, संक्षेप में ये हैं—वस्त्रों के लिए रुई का प्रयोग, जो पश्चिम के अन्य देशों को दो-तीन सहस्र वर्ष बाद भी ज्ञात नहीं था; (२) नागरिक जीवन और सुख-सुविधाओं की ऊँची स्थिति जैसा कि साधारण पुरवासियों के काम में आने वाले आरामदेह घर, स्नान-प्रबन्ध कुएँ और पानी के निकास की मोरियों से ज्ञात होता है। जो बात प्राग् ऐतिहासिक मिस्र या पश्चिमी एशिया के अन्य किसी भी देश में, जहाँ की वास्तविक कला में आलीशान महल, मन्दिर और समाधियाँ तो थीं, किन्तु थोड़ी पूँजी वाले मनुष्य या सर्वसाधारण के वास-स्थानों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया; (३) तक्षण-कला में विशेष उन्नति, जैसा कि सोफ़यानी मिट्टी की ढली वस्तुओं से, या पत्थर की मुहरों में खुदे हुए वृषभ आदि पशुओं से, ऊपर उल्लिखित मानवी मूर्तियों की अत्यन्त सुन्दर और मृदुल अंगप्रत्यंग की रचना से विदित है; और (४) धर्म, जिसमें स्पष्ट ही अर्वाचीन हिन्दू-धर्म के कितनी ही बातों के पूर्वरूप, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाए जाते हैं।

काल—सिन्धु-सभ्यता के काल का अनुमान उपरिनिर्दिष्ट उन समानताओं से अनुमानित होता है जो उसमें और प्राचीन काल की अन्य संस्कृतियों में, जिनका समय ज्ञात है, पाई जाती हैं; जैसे इतिहास के उषाकाल की सुमेर सभ्यता, एवं उसके बाद की जल-प्लावन से पूर्व की एलम (शूत्रा) और ईराक (तिग्रा-इफ्रातु) की सभ्यताएँ। सिन्धु, एलम और ईराक की खुदाई में प्राप्त कई प्रकार की वस्तुओं में जो-कुछ विशेष समानताएँ देखी जाती हैं उन्हें यों ही कहकर नहीं टाला जा सकता, अवश्य ही ईसा-पूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त तक इन प्रदेशों के बीच में प्रचलित पारस्परिक सम्पर्क का ही वे फल हो सकती हैं।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पाँच मुहरें हैं, जिन पर 'सिन्धु की छाप' (लिपि और ककुद्मान वृष) असंदिग्ध है और जो एलम और ईराक के प्राचीन स्थानों में मिली थीं। इनमें से उर और किश से प्राप्त दो मुहरें निश्चयपूर्वक पूर्व-सारगन-युग अर्थात् २८०० ई० पू० से पहले की हैं, यद्यपि मोहेंजोदड़ो में ऐसी मुहरें और भी प्राचीन स्तरों में प्राप्त हुई हैं। मोहेंजोदड़ो के अवशेषों के सात भिन्न स्तरों में प्रत्येक के लिए ५०० वर्षों का भी समय माना जाय, क्योंकि बार-बार बाढ़ों के आने से वहाँ पुरानी वस्तुओं का ध्वंस और नई का निर्माण बहुत शीघ्रता से हुआ, तो सिन्ध की सभ्यता का समय ३२५०-२७५० ई० पू० में उचित रूप से रखा जा सकता है, यद्यपि उसका मूल विकास और पूर्व इतिहास और भी पहले ले जाना होगा।

मुहरों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की वस्तुएँ और पदार्थ इन सभ्यताओं के आपसी घनिष्ठ सम्पर्कों को सूचित करते हैं। इनमें से उल्लेखनीय ये हैं—(१) अल-उबैद से प्राप्त भारतीय सेलखड़ी के बरतनों के कुछ टुकड़े; (२) उपर्युक्त योगी की मूर्ति के वस्त्र पर तिफुलिया अलंकरण, जो सुमेर का समझा जाता है; (३) मुहरों पर शृङ्गवान् आकृतियाँ, जिनकी पहचान सुमेर के वीर-देवता (Hero-god) इअबनी से की जाती है; (४) पच्चीकारी के काम की हकीक (Carnelian) की गुरियाँ, जिनकी निर्माण-विधि ठीक पूर्व सारगन-युग की समाधियों में किश से मिली हुई गुरियों के जैसी हैं; (५) बरतन, धूपदानी और तोलने के पत्थर के बट्टों आदि के प्रकार और आकार, एवं इसी तरह की अन्य बातें भी।[1] श्री अर्नैस्ट मैके के अनुसार मोहेंजोदड़ो के रेखांकित बरतन उनकी अलंकरण-शैली के आधार पर शूसा एक युग (लगभग ४२५० ई० पू०) अथवा शूसा दो (लगभग ४००० ई० पू०) के बाद के युग के होने चाहिएँ, अर्थात् ३२५०-२७५० ई० पू० के लगभग समय के, जिस काल के बिलोचिस्तान में श्री आरेल स्टाइन को प्राप्त रेखांकित बरतन भी हैं।

हाल में (१९३२) श्री वूली ने उर स्थान में एक समाधि की खुदाई करते हुए एक अन्य भारतीय मुहर उस स्तर से प्राप्त की है जिसे वे द्वितीय राजवंश और २८०० ई० पू० के लगभग की बताते हैं, पर उसके समय और महत्त्व के बारे में उन्हें खुद सन्देह है, क्योंकि वह अकेली एक कब्र में भराव की मिट्टी में पाई गई। ऊपर वर्णित पाँच मुहरों के विषय में भी तिथिक्रम-सम्बन्धी इसी प्रकार की अनिश्चितता है।

किन्तु हमारे पास अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट आधार उस सामग्री के रूप में है, जो शिकागो प्राच्य संस्थान के द्वारा प्रेषित ईराक में काम करने वाले विद्वन्मंडल को (Iraq expedition) बगदाद के समीप रेगिस्तान में स्थित तेल्ल असमर (प्राचीन एशनुन्न) की खुदाई में, निश्चित स्तरों से प्राप्त हुई। इस स्थान में धरती के ऊपर ही अक्कद् देश के सम्राट् सारगन (लगभग २,५०० ई० पू०) के समय की गोल लम्बी मुहरें, बरतन और लेखयुक्त मिट्टी के ठीकरे प्राप्त हुए एवं एक मुहर

१. लन्दन की राजकीय प्राच्य पत्रिका '१९३१' पृ० ४९३-६' में एक लेखक ने भारत और ईराक के बीच सम्पर्क के तीन सूत्र बताए हैं—लिपि, चित्रित बरतन और चौकोर ईंटें। भारतीय लिपि का तो आरम्भ में ही सुमेर लिपि के सामने परित्याग कर दिया गया था। ३५०० ई० पू० के बाद भारतीय प्रकार की चौकोर ईंटें भी हट जाती हैं और उनका स्थान बीच में उभरवाँ ईंटें ले लेती हैं।

में तो उसी वंश के अन्तिम राजा पु-दुर-उल का नाम भी मिला। इसी सामग्री में निश्चितरूपेण भारतीय वस्तुएँ भी प्राप्त हुईं जिनके सिन्धु-उपत्यका से यहाँ लाये जाने में कोई सन्देह नहीं रहता और इस प्रकार सिन्धु-सभ्यता का भी संशयरहित काल ज्ञात हो जाता है। पशुओं से अंकित एक मुहर ऐसी मिली जिस पर हाथी और गैंडे के चित्र हैं, जो बाबेरू देश (बेबीलोनिया देश) में नहीं पाए जाते। इनके चित्रों की शैली में भी सिन्धु-शैली की छाप है—विशेषत: हाथी के पैर, कान और त्वचा के दोहरे पर्त के एवं मेढ़े के कानों के अंकन की विशेष रीति से। इससे कोई सन्देह नहीं रहता कि यह मुहर सिन्धु की उपत्यका से लाई गई और २५०० ई० पू० के लगभग एशनुन्न में आ चुकी थी। इस स्थान से प्राप्त ऐसी ही अन्य भारतीय वस्तुएँ ये हैं—छापने की चौकोर मुहरें, जिनके पीछे पकड़ने का सूराखदार टुनटुना लगा है और सामने एक के भीतर एक चौक बने हैं, जो बनावट मोहेंजोदड़ो में सामान्यत: मिलती है, पर मेसोपोटामिया में नहीं पाई जाती; हकीक की खचित गुरियाँ (जिन पर पच्चीकारी का काम है) जो निश्चित रूप से भारतीय होते हुए अक्कदी गुरियों के साथ मिली-जुली पाई गई हैं; अथवा पच्चीकारी के खाँचों में बैठाने के लिए हड्डी के छोटे-छोटे पत्रे जिनकी आकृति वृत्त-जैसी गोलाई लिये है और जो मोहेंजोदड़ो से प्राप्त शंख के बने हुए इसी प्रकार के खचित पत्रों से यथावत् मिलते हैं; पर वे मेसोपोटामिया के नहीं हैं।

बगदाद की इस खुदाई के स्थान में पाँच क्रमिक स्तर निकले हैं, अर्थात् (१) लारसायुग (२१८६-१९३१ ई० पू०), (२) प्राग सारगनयुग, जो आक्रमणकारी पर्वतीय जातियों से सम्बन्धित है, (३) और (४) सारगनयुग, जिसकी मुहरें और अभिलिखित मिट्टी के ठीकरे मिले हैं, और (५) प्राचीनतम युग, जिसमें उर की समाधियों के समकालीन घर मिले हैं जो बीच में उभरी हुई ईंटों से बने हैं। इस प्रकार श्री वूली के कथनानुसार उर से प्राप्त सामग्री बगदाद की सामग्री से एक सहस्र वर्ष अधिक पुरानी है अर्थात् लगभग ३५०० ई० पू० की है। इस तरह बाबेरू मिस्र से भी अधिक पुराना ठहरता है, जहाँ प्राचीनतम राजवंश का समय तीन हजार ईस्वी पूर्व से पहले का नहीं है। इस मत से तो सिन्धु-सभ्यता का समय और भी पीछे ले जाना पड़ेगा।

अन्ततः यह भी ध्यान देने योग्य है कि एशनुन्न में सारगन-कालीन घरों से प्राप्त वस्तुएँ (जैसा कि लेखों में मिश्रित उल्लेख है) मोहेंजोदड़ो की सामग्री से वैसी गहरी समता नहीं रखतीं जैसी कि पहले कही हुई छः मुहरें। इस अन्तर के पीछे भौगोलिक या तिथिक्रम-सम्बन्धी कारण हो सकते हैं। बगदाद की मुहरें सिन्धु-सभ्यता के मोहेंजोदड़ो-युग से बाद की या पहले की हो सकती हैं अथवा

सिन्धु-सभ्यता के अन्य किसी केन्द्र से बगदाद ले जाई गई होंगी। सम्भवतः दूसरा पक्ष अधिक सत्य है। जो भी हो यह तो स्पष्ट ही है कि मोहेंजोदड़ो में गोचर सभ्यता प्राचीन सिन्धु-सभ्यता का केवल अथवा सबसे प्राचीन उदाहरण नहीं है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है (ईराक-उत्खनन की खुदाई के अध्यक्ष डा० एच० फ्रेंकफोर्ट का ५ मार्च सन् १९३१ को प्रकाशित पत्र)।

निर्माता—इस सभ्यता के निर्माता कौन थे? मोहेंजोदड़ो में प्राप्त नर-कंकालों से चार नस्लों का प्रमाण मिलता है अर्थात् आद्य-निषाद्,[1] भूमध्य-सागर से सम्बन्धित,[2] मंगोल और अल्पाइन[3]। आद्य-निषाद् जाति के लोग (Proto-Australoids) भारतीय महाद्वीप के निवासी थे, भूमध्यसागरीय नस्ल के लोग एशिया के दक्षिणी भागों से आये, अल्पाइन पश्चिमी एशिया से, मंगोल किरात वंश के पूर्वी एशिया से। इस प्रकार सिन्ध की जनता उस पूर्व युग में भी नानादिग् देशागत थी। नरकपालों से प्राप्त साक्षी का समर्थन मूर्तियों से भी होता है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त पत्थर की मूर्तियाँ कई नस्लों के सम्मिश्रण का संकेत करती हैं पर इस प्रकार के प्रमाण में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। शिल्पी या कलाकार नृविशेषज्ञ तो थे नहीं जो मूल मस्तकों की सच्ची प्रतिकृति बनाते। प्राप्त कपालों की संख्या भी इतनी कम है कि उससे मोहें-जोदड़ो की जनसंख्या में प्राप्त विविध जातियों का निःशंक अनुमान नहीं निकाला जा सकता। हड़प्पा से प्राप्त मस्तकों की संख्या कम ही है और उसमें भी केवल तीन विशेषज्ञों द्वारा जाने गए हैं। दोनों स्थानों से प्राप्त अस्थि-पंजरों की सामग्री बहुत ही थोड़ी है।

दूसरा प्रश्न जो उठाया जा सकता है वह यह है—

क्या सिन्धु के निवासी द्रविड़ थे? यह इसलिए क्योंकि जिन सुमेर के लोगों के साथ सिन्धुवासियों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था वे भी उस नृवंश के माने जाते हैं जिसके द्रविड़ हैं। बिलोचिस्तान की ब्रहुई भाषा बताती है कि अत्यन्त प्राचीन काल में द्रविड़ लोग उत्तर के उन प्रदेशों में थे। इस प्रश्न में कठिनाई यह है कि सुमेर और द्रविड़ इन दोनों जातियों की निश्चित परिभाषा दुष्कर है, क्योंकि वे स्वयं मिलावट से बने हैं। यदि द्रविड़ों को पश्चिम से आये आक्रमणकारियों के रूप में मान लिया जाय तो भी उनका मूल नृवंश भारतीय निषाद जाति के साथ अन्तर्विवाह

---

१. जिनके वर्तमान वंशज कोल, भील आदि हैं।
२. वर्तमानकालीन लम्बे कपाल वाले हिन्दुस्तानियों में प्राप्त।
३. चौड़े सिर वाले गुजराती, मराठी, बंगाली आदि जातियों में निर्दिष्ट।

के कारण घुल-मिलकर परिवर्तित हो गया अथवा यदि उन्हें भारत का ही मूल निवासी माना जाय, तो वे स्वयं आदिवासी निषाद वर्ग के ठहरते हैं, जो पीछे चलकर स्वाभाविक विकासक्रम से एवं बाहरी तत्त्वों की मिलावट से, दोनों ही अवस्थाओं में, चाहे वे पश्चिम से पूर्व या पूर्व से पश्चिम गये हों, मोहेंजोदड़ो से प्राप्त थोड़े से नरकंकालों की पहचान से, न उन्हें द्रविड़ कह सकते हैं न सुमेरवासी।

वैदिक सभ्यता के साथ सिन्धु-सभ्यता के मिले हुए सूत्र—अन्त में, प्रश्न यह है कि सिन्धु के निवासी और उनकी संस्कृति का ज्ञान ऋग्वेद में पाया जाता है या नहीं। अर्थात् सिन्धु संस्कृति वैदिक संस्कृति से पहले की है या पीछे की एवं उसकी पूर्वज है या वंशज ?

ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष की समीक्षा हम आगे करेंगे। ऋग्वेद की सामग्री के सम्यक् पर्यालोचन से यह ज्ञात होगा कि उसमें जो अनार्य लोगों के और उनकी सभ्यता के उद्धरण हैं, वे सिन्धु के निवासी जनों पर लागू हो सकते हैं। जैसा आगे चलकर बताया जायगा ऋग्वेद की प्राचीनता पन्द्रह शताब्दी ईस्वी पूर्व के उन पट्टियों से सिद्ध होती है, जो खत्ती जाति की राजधानी बो ग़ज़-कुई से मिली हैं, और जिनमें ऋग्वैदिक देवताओं के विशेष नाम हैं, जिससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का जन्म इतने पूर्व काल में हुआ था कि उसकी संस्कृति भारत से मेसोपोटामिया तक उस प्राचीन समय में भी पहुँच गई थी। यदि छठी शती ई० पू० के लगभग बौद्ध-धर्म के उदय से पहले संस्कृत भाषा और साहित्य के विकास पर सही दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो हम ऋग्वेद को २५०० ई० पू० के बाद नहीं रख सकते, जब कि उसके रूप का अन्तिम सम्पादन हो चुका था। तिथिक्रम-सम्बन्धी इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए आचार्य लेंग्डन ने यह परिणाम निकाला था कि "यह बहुत अधिक सम्भव है कि भारतीय आर्य ही इंडोजर्मन जाति के सबसे प्राचीन प्रतिनिधि हैं। अपने मत के समर्थन में उनका यह विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि सिन्धु लिपि से ही निकली है।"

अनार्य अथवा भारतीय आदिम निवासियों के बारे में ऋग्वेद में भी बहुत सी सामग्री है। आर्येतरों को उसमें दास, दस्यु या असुर कहा गया है; एक मन्त्र में रतमुहे (पिशंग), पिशाच और राक्षसों का उल्लेख है, जो भीषण शब्द निकालते और युद्ध के समय हल्ला करते थे। इसमें अनार्य वीरों और जनों का भी उल्लेख है (अग्रिम अवतरण देखिए)। इसमें अनार्य सभ्यता की कुछ सार्थक विशेषताओं का उल्लेख है जो सिन्धु-सभ्यता की सूचक और उसके सदृश है; उदाहरण के लिए आर्येतर लोगों को अपरिचित भाषा में बोलने वाला (मृध्रवाच्), वैदिक

कर्मों से रहित (अकर्मन), वैदिक देवों के न मानने वाले (अदेवयु), श्रद्धा और धार्मिक विश्वास से रहित (अब्रह्मन्), यज्ञों से शून्य (अयज्वन्), एवं व्रतों से रहित (अव्रत) कहा गया है वे केवल अपने नियमों का पालन करने वाले (अन्यव्रत) थे। इन नकारात्मक संकेतों के अतिरिक्त एक निश्चयात्मक सूचना अनार्यों के विषय में यह दी गई है कि वे लिंग-पूजक थे (शिश्नदेवाः, ऋ० ७।२१।५; १०।९९।३)।

अनार्य संस्कृति के इस ऋग्वैदिक वर्णन में ऐसी कोई बात नहीं है जो सिन्धु-संस्कृति से उल्टी पड़ती हो। हम ऊपर देख चुके हैं कि सिन्धु निवासियों के धार्मिक आचार में लिंग-पूजा का विशेष स्थान था, जब कि उनकी भाषा, जो अब तक पढ़ी और समझी नहीं जा सकी है, जैसा कि ऋग्वेद में लिखा है, संस्कृत से बिलकुल भिन्न थी।

आर्येतर सभ्यता के वास्तविक स्वरूप के विषय में यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में नगर और पुर, पृथ्वी और उरवी अर्थात् लम्बी-चौड़ी धरती, जो गायों से भरी हुई होती थी (गोमती), सौ खम्भों वाले (शतभुजी), पत्थरों से बने हुए (अश्ममयी) और शरद ऋतु में काम आने वाले (शारदी) दुर्गात्मक नगरों का वर्णन है, जिनमें लोग नदियों की बाढ़ से आत्म-रक्षा करते थे। एक आर्येतर देश के सौ पुरों का भी इसमें उल्लेख है। वैदिक देव इन्द्र को भी यहाँ पुरन्दर 'पुरों का भेदन करने वाला' कहा गया है। क्या इन सब उल्लेखों का मेल सिन्धु-उपत्यका की नगर-प्रधान सभ्यता से मिलता हुआ नहीं दीखता? ऋग्वेद में एक व्यापारी जाति का वर्णन है जिसे पणि कहा गया है, एवं तुरवश और यदु नाम के जनों को समुद्र पार का कहा गया है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कुछ नर-कपाल आदिम जाति के, जिसे ऋग्वेद में अनास अथवा चपटी नाक वाली और कृष्ण-वर्ण अथवा काले-कलूटे रंग वाली कहा गया है, प्रतीत होते हैं।

अधिकांश पशु जो सिन्ध के लोगों को ज्ञात थे, ऋग्वेद में भी मिलते हैं; जैसे, भेड़, बकरी, कुत्ता, बैल (४।१५।६; ८।२२।२; ७।५५।३)। ऋग्वैदिक मनुष्य मृग (१०।३९।८), वराह (१०।८६।४), गौर (जंगली भैंसा १०।५१।६), सिंह (१०।२८।१०) और हाथी (८।२।६), इन पशुओं से शिकार के लिए परिचित थे और ये ही सिन्धु-उपत्यका में भी ज्ञात थे। केवल घोड़े ऋग्वैदिक भारत में पाले जाते थे, सिन्धु-उपत्यका में नहीं।

धातुओं में ऋग्वेद में सोने (हिरण्य) के (१।१२२।२) गहनों का वर्णन है। ये आभूषण कान के कुण्डल (कर्ण-शोभन ७।७८।३), वलय (निष्क ग्रीव २।३३।१०), नूपुर (खादि १।१६६।९ और ५।५४।११) और हार (रुक्मवक्ष या पत्सु खादयो

वक्षसु रुक्मा) और गले में मणियाँ (मणिग्रीव १।१२२। १४) थे। इनमें से अधिकांश आभूषण मोहेंजोदड़ो के पुरवासी भी पहनते थे।

सोने के अतिरिक्त ऋग्वेद में एक अयस् नामक दूसरी धातु का भी वर्णन है, जिसके बरतन बनते थे (अयसमय ५।३०।१५)। इस धातु को ठठते या पीटकर बढ़ाते भी थे (अयोहत् ९।१।२)। सम्भवतः ऋग्वेद में अयस् का अर्थ ताँबा है। अथर्ववेद में बाद में लोहे को 'श्याम अयस' कहा गया है और ताँबे को लाल (लोहित) अयस् (११।३।१।७) कहकर भिन्न माना है। ऋग्वेद में पत्थर के कुछ हथियारों का भी उल्लेख है जैसे अश्मचक्र, पत्थर की गरारी (१०।१०१।७), अद्रि (१।५१।३), अथवा अशनि या पत्थर के गुल्ले (६।६।५)।

सिन्धु-उपत्यका में अज्ञात कई प्रकार के कवचों का वर्णन ऋग्वेद में आता है; जैसे वर्म, (६।७५।१) वह कवच या बख्तर जो धातु के तवों को सीकर (स्यूत) बनाया जाता था (१।३५।१५) और शरीर पर कसा हुआ रहता था, अथवा अयस् (४।३७।४) या सोने (हिरण्य २।३४।३) का बना हुआ शिप्र (५।५४। ११)। ऋग्वेद में स्त्री-पुरुषों के केश-संस्कार के समतुल्य ही मोहेंजोदड़ो में भी बालों में कंघी करके तेल डालने की प्रथा थी। स्त्रियाँ बालों की पटियाँ काढ़ती थीं। एक युवती को चतुष्कपर्दा (ऋग्वेद १०।११४।३) अर्थात् चार जूड़े वाली कहा गया है। पुरुष भी अपने केशों का कभी-कभी जूड़ा बाँधते थे या सिर पर सामने की ओर सोने का पात या सिंगार पट्ट पहनते थे (ओपश १।१७३।६)। वसिष्ठों को दाहिनी ओर जूड़ा बाँधने वाला बताया गया है (७।३३।१)। पुरुष दाढ़ी (श्मश्रु २।११।१७) भी रखते थे।

सिन्धु-सभ्यता की अद्वितीय विशेषता अर्थात् रुई से वस्त्र बुनने की कला ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष में भी एक सुपरिचित उद्योग है। ऋग्वेद में बुनकर को वाय (१०।२६।६) करघे को वेमन्[1], चरखी को तसर (१०।१३०।२), ताने को ओतु (१०।१३०।२), बाने को तन्तु (६।२।६), ताना पूरने के खूँटों को मयूख (१०।१३०।२) कहा गया है।

ऋग्वेद की इस सामग्री का उल्लेख यह बताने के लिए नहीं किया गया कि ऋग्वैदिक-सभ्यता सिन्धु-सभ्यता की पूर्वगामिनी या उत्तराधिकारिणी थी। हमारा अभिप्राय केवल यह दिखाने का है कि जिन भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में ऋग्वेद की रचना हुई (जिनका आगे वर्णन किया जायगा) उनमें आर्येतर लोगों की संस्कृति और जीवन-परिस्थिति से आर्यों का परिचित हो जाना स्वाभाविक था, जिनमें से कुछ का उल्लेख ऋग्वेद में आ गया है और जो मोहेंजोदड़ो से

१. यह प्रमाण मूल ऋग्वेद में नहीं मिला—अनुवादक

प्राप्त सामग्री से मिलता है। तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद के आर्येतर वे लोग हो सकते हैं जिन्होंने सिंधु-सभ्यता का निर्माण किया। इस अनुमान का मेल इस सर्व-स्वीकृत मत से भी ठीक बैठता है कि ऋग्वेद का काल २५०० ई० पू० के बाद का नहीं है तथा वह सिन्धु-उपत्यका के प्राथमिक इतिहास के लगभग समकालीन ठहरता है।[1]

प्राग् ऐतिहासिक मानव—अब हमें ऊपर-तले की इन प्राग्-ऐतिहासिक संस्कृतियों का सम्बन्ध उन मानव-जातियों के साथ यथासम्भव लगाकर देखना चाहिए जो इनके जन्मदाता थे। यह पुरातत्त्व का नृतत्त्व से सम्बन्ध मिलाना हुआ। मानव-जातियों, उनके मूल, जन्म और सम्बन्धों की छान-बीन शारीरिक, भाषा-सम्बन्धी एवं सांस्कृतिक विशेषताओं पर निर्भर है। इस प्रकार का अध्ययन एक विशेष अतिरिक्त ग्रन्थ के सिवाय नहीं हो सकता।

कपाल-सम्बन्धी सामग्री—मानव-जातियों के अध्ययन के लिए प्राग्-ऐतिहासिक कपालों की सामग्री भारतवर्ष में अभी थोड़ी ही है। केवल कुछ ही जगह यह मिली है—आदिच्चनल्लूर और दक्षिण भारत में कुछ स्थान, स्यालकोट, भरतपुर के पास बयाना, बलूचिस्तान में नाल और मोहेंजोदड़ो। बस भारतीय प्राग्-ऐतिहासिक कपाल-विद्या का क्षेत्र इतने ही में समाप्त हो जाता है। इन स्थानों में मिले हुए नर-कपाल विभिन्न प्रकार के हैं, आद्य-आग्नेय कुल, भूमध्य-सागरीय कुल, पर्वतीय कुल अथवा लम्बी कपाली[2] और नाटी कपाली के। इससे ज्ञात

१. देखिए सर जॉन मार्शल और दूसरे लेखकों की पुस्तक—"मोहेंजोदड़ो और सिन्धु सभ्यता"। ३ जिल्दों में।

२. अंग्रेजी Dolicho-Cephalic— वे कपाल जिनकी चौड़ाई लम्बाई के ४/५ से कम हो। हिन्दी लम्बा-कपाल—यह शब्द संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। मानव जातियों के वर्गीकरण के लिए दो मुख्य आधार-भाव हैं। पहला, कपाल की नाप (Cephalic Index) अर्थात् कपाल की अधिकतम चौड़ाई (एक कान के ऊपर से दूसरे कान के ऊपर तक की नाप) का उसकी अधिकतम लम्बाई (ललाट की शिरोरेखा से सिर की गुद्दी तक के नाप) से अनुपात। यह नाप ७५ प्रतिशत या उससे कम हो तो लम्बी कपाली और उससे ऊपर हो तो नाटी कपाली मानी जाती है। दूसरा नासिका-सम्बन्धी नाप (Nasal Index), अर्थात् नाक की चौड़ाई का उसकी ऊँचाई से अनुपात। पतली नाक वाली (तुंगनासिक) (Leptorrhine) चेहरे के नक्श में यह अनुपात ७० प्रतिशत से कम और चपटी नाक वाले (पृथुनासिक)(Platyrrhine) नक्श में ८५ से १०० प्रतिशत होता है।

होता है कि मोहेंजोदड़ो की जनता में सब लोग समान मानव-कुल के नहीं थे, किन्तु मिली-जुली आबादी थी।

यह भी मानना पड़ता है कि भारत के सबसे पहले के निवासियों में लम्बी कपाली और नाटी कपाली दोनों प्रकार के लोग थे, जैसा उपलब्ध नर-कपालों से ज्ञात होता है।

मानव-कपाल की इन दो रूपों में भिन्नता पहले-पहल उन वानर या वन-मानुषों के वंश में मिलती है जिनसे मनुष्य का विकास हुआ। पुरखा कुल का आकार नाटी कपाली का था और कपाल का लम्बा रूप बाद में विकसित हुआ। यद्यपि शुरू से ही कुछ अनुपात ऐसे लोगों का भी था जो लम्बी कपाली के थे।

हब्शी (Negrito)—भारत में सबसे पहले बसने वाले मनुष्य कृष्णदेह और नाटे हब्शी जाति के थे, जिनमें से बचे हुए कुछ लोग आज भी अण्डमन द्वीप में रहते हैं; और शायद सुदूर दक्षिण-भारत के छोर पर रहने वाली कड़ार और उरली जातियाँ भी इनमें से हैं, जिनका कद नाटा और बाल घुँघराले हैं। इस श्यामाङ्ग नाटी जाति ने धनुष का आविष्कार किया। यही संस्कृति को उनकी देन थी।

आदिम आग्नेय या निषाद वंशी लोग (Proto-Australoids)—नाटे श्यामाङ्ग लोगों के बाद एक लम्बी कपाली वाली दूसरी जाति आई जिन्हें आदिम आग्नेय-वंशी अथवा आदिम निषाद जाति कहा गया है। अब उनका मूल निवास फिलस्तीन में माना जाता है, न कि पूर्वी द्वीप-समूह या आस्ट्रेलिया में, जैसा कि अब तक समझा जाता था। ये आदिम आग्नेय-वंशी लोग ही भारतवर्ष के सच्चे आदिवासी हैं, क्योंकि उनकी सूरत-शक्ल और विशेषताओं से युक्त मानव का नमूना ही भारतवर्ष में आगे चलकर स्थिर हो गया, यद्यपि इस देश में वे लोग बहुत पहले पश्चिम से आए थे। इनकी सूरत-शक्ल की छाप सबसे शुद्ध रूप में वेद्दा लोगों में मिलती है। भारतवर्ष में सबसे ऊँची जातियों को छोड़कर अन्य दूसरी जातियों में जो चौड़ी नाक और काला रंग मिलता है, वह इसी मूलभूत जातीय तत्त्व से आया है।

कृष्णद्वीपीय जातियाँ—नाटे हब्शी और आदिम निषादीय जाति-तत्त्वों के सम्मिश्रण से विकसित होकर जो नया स्थिर जाति-तत्त्व निर्मित हुआ वह कृष्ण-द्वीपीय (Melanesian)[1] कहलाता है। इस सूरत-शक्ल के लोग आसाम और बर्मा के बीच के पहाड़ी इलाके में, निकोबार द्वीप में और मलाबार समुद्री तट पर पाए जाते हैं। इनकी संस्कृति के कुछ विशेष चिह्न हैं, जैसे मृत व्यक्ति के शव को

१. Mela = मलिन, काला या कृष्ण। Nesia = द्वीप।

खुले में छोड़ देना और छोटी-छोटी डोंगियों को देवता मानकर उनकी पूजा करना। लेकिन इस जाति के लोग सांस्कृतिक इकाई के रूप में हमारे देश में अलग नहीं पाए जाते। वे औरों के साथ घुले-मिले हैं।

आदिम आग्नेय-वंशी जाति द्वारा संस्कृति को देन : मुण्डा—आदिम आग्नेय या निषाद वंश के लोगों ने नव-पाषाण-युग की संस्कृति की नींव डाली और मिट्टी के बरतनों का आरम्भ किया। किन्तु भाषा के क्षेत्र में उनकी देन अधिक स्थिर और महत्त्वपूर्ण है। वे लोग उन आग्नेय-वंशी भाषाओं के बोलने वाले थे जो पंजाब से न्यूज़ीलैण्ड तक और मैडागास्कर से ईस्टर द्वीप तक के विशाल क्षेत्र में फैली हुई हैं। भारतवर्ष में इन भाषाओं का वंश 'मुण्डा' कहलाता है, जो इस देश में बोली जाने वाली भाषाओं में सबसे प्राचीन है। भारतवर्ष के मुण्डा-भाषी क्षेत्रों पर विचार करने से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि आदिम आग्नेय जातियों के आने और फैलने का मार्ग कौनसा था। उनका फैलाव या तो पूर्व से पश्चिम की ओर या पश्चिम से पूर्व की दिशा में होना सम्भव है। मुण्डा-भाषा लद्दाख और सिक्किम के बीच में हिमालय की भीतरी पटरी में, मध्यप्रदेश के पश्चिम में, और दक्षिण की ओर गञ्जाम और विशाखापत्तन के पहाड़ी क्षेत्र में जीवित है; लेकिन गोदावरी से नीचे नहीं। न केवल दक्षिण पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर की भाषाओं के साथ मुण्डा भाषा की समानता है, बल्कि संश्लिष्ट प्रकृति वाली प्राचीन सुमेर देश की भाषा से भी। इस प्रकार यह समझा जाता है कि आग्नेय-वंशी भाषाएँ एशिया के मध्यभाग में या दक्षिण पूर्वी-भाग में किसी एक जगह पहले-पहल उत्पन्न हुईं, जहाँ से वे दक्षिण की ओर फैल गईं।

मुण्डा भाषा-भाषी लोगों को मुण्डा, कोल, निषाद आदि नामों से पुकारा जाता है। उनकी संख्या ६० लाख से ऊपर है, जिनमें ये हैं—संथाल (लगभग २३ लाख), भील (१८ लाख), कुरुम्ब (६ लाख), मुण्डा (६ लाख), शबर (५ लाख), हो (४ लाख)। इनमें और भी कुछ छोटे कबीले जैसे कोरवा (सिरगुजा और मिर्ज़ापुर में), जुंग (ढेंकानल में), या कोर्कू (पंचमढ़ी के पहाड़ी इलाके में) सम्मिलित हैं। सन्थाल परगना और छोटा नागपुर, मध्यप्रदेश के कुछ भाग, उड़ीसा और मद्रास, इस लम्बे-चौड़े क्षेत्र में एक पृथक् आदिम मुण्डा या कोल जाति की सभ्यता अनेक युगों से चली आ रही है, जिसके विशेष लक्षण ये हैं—स्वतन्त्र ग्राम-संस्थाएँ, सामूहिक रीति से शिकार करना तथा व्रत रखना, जाति-भेद का अभाव, प्रत्येक कबीले के द्वारा बलि देकर अपने वृक्ष-देवताओं की पूजा करना, जाति के अपने नियम-विधान, छोटे अपराधों के लिए जाति-बिरादरी की दावत के रूप में दण्ड और भारी अपराधों के लिए जाति से बाहर करना या कृषि आदि के द्वारा

दण्डित करना[1], इत्यादि ।

किरात (Mongol)—द्रविड़ भाषाओं से भिन्न कुछ भाषाओं में किरात या मंगोल भाषा के अंश पाए जाते हैं जिन्हें मौन-ख्मेर भाषाएँ कहते हैं। इनके बोलने वाले आसाम की खासी पहाड़ियों में, उत्तरी बर्मा के पहाड़ी इलाके में, दक्षिणी बर्मा, मलाया प्रायद्वीप और निकोबार द्वीप के कुछ भागों में रहते हैं। पूर्व से आने वाले मंगोल जातीय आगन्तुकों के साथ ये भाषाएँ भारत में आईं—कुछ तो ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे-किनारे तिब्बत से और कुछ चीन से बर्मा में माँगंगा (मीकाँग), सालवीन और इरावदी नदियों के रास्तों से। यह भी ज्ञातव्य है कि पूर्व की ओर से कुछ अन्य अभियानों के साथ भारत में भोट (तिब्बती)

१. डा० हैडन के अनुसार मुण्डा-भाषी लोग भारतीय द्वीप-समूह में बसने वाली जाति के थे जो गंगा की अन्तर्वेदी और पश्चिमी बंगाल के अपने मूल स्थान से पोलीनीशिया तक फैल गई थी। उसकी सांस्कृतिक पहचान कुछ वस्तुओं में पाई जाती है, जैसे भारत और लंका के पश्चिमी तट पर मिलने वाली छोटी पालदार डोंगी (Outrigger Canoe), नारियल का पेड़ एवं भारतीय द्वीप-समूह, हिन्द चीन, बर्मा और भारत के कुछ हिस्सों में पाई जाने वाली वाशी या बसूली जिसके ऊपरी भाग में कन्धों के दोनों ओर कोर निकली हों (Shouldered Celt)। चौरस कन्धों की कोरदार बसूलियाँ इरावदी नदी के आसपास बहुत होती हैं। सन्थाल परगना एवं भारत के दक्षिणी और मध्यभाग में जिस तरह की पत्थर की बसूलियाँ प्रायः मिलती हैं उनसे इरावदी वाली भिन्न होती हैं और उनका सम्बन्ध मोहेंजोदड़ो से प्राप्त काँसे और ताँबे की बिना कोरवाली बसूलियों से है। छोटा नागपुर क्षेत्र में प्राग् ऐतिहासिक श्मशान-भूमियों में भी कोरदार ताँबे की बसूलियाँ (Celts) मिलती हैं। अतएव यह निश्चित नहीं कि इरावदी प्रदेश में मिली हुई पत्थर की घिसी हुई और कोरदार बसूलियाँ (अश्मवती वाशी) भारत की ताम्र-वाशियों से पहले की हैं या बाद की। यदि ताम्र-वाशी बाद की हैं, तो मानना पड़ेगा कि कोरदार पत्थर की वाशी भारतवर्ष में हिन्द एशिया से लाई गई। यदि मोहेंजोदड़ो में प्राप्त ताम्र-वाशियाँ पूर्वकालीन थीं तो पत्थर की वाशी भारत या हिन्द एशिया में पश्चिम की ओर से गई होंगी। यह अधिक सम्भव है कि इरावदी की चौरस और अत्यन्त घुटी हुई वाशियाँ पत्थर की नकल न होकर किसी धातु के बने हुए मूल से निकली होंगी।

और चीनी परिवार की दो भाषाएँ और आ गईं। एक तो भोट-बर्मी जिसके बोलने वाले लोग हैं अलमोड़ा और गढ़वाल के भोंटिये, उत्तरी आसाम के डफला, अबोर मीरी और मिश्मी, पश्चिमी आसाम की पहाड़ियों के निवासी गारो, नागा पहाड़ियों के कूकी-चीन, कूच-बिहार, नौगंज, कामरूप और गालपाड़ा के बोदो या कोच, उत्तरी इरावदी के पास के रहने वाले काचीन या सिङ्फो, और बर्मी लोग; और दूसरी स्यामी-चीनी परिवार की भाषा जो पूर्वी बर्मा के शान प्रदेश में बोली जाती है।

पूर्व से आने वाली मंगोल जाति का प्रभाव उनकी भाषा के क्षेत्र से कहीं अधिक आगे तक बढ़ गया था जैसा कि मोहेंजोदड़ो में प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों और नर-कपालों से ज्ञात होता है।

प्राचीनतम भाषाएँ—पूर्व विवरण से ज्ञात होगा कि भारत के इन आदि-वासियों ने कुछ प्राचीनतम भाषाओं का दान देश को दिया, जैसे मुण्डा (निषाद), मौन-ख्मेर (किरात वंश की), आग्नेय द्वीपों की एवं भोट-चीनी परिवार की भाषाएँ। जैसा आगे ज्ञात होगा, ये भाषाएँ द्रविड़ भाषाओं के द्वारा और भी अधिक दक्षिण-पूर्व की ओर ढकेल दी गईं, जिस प्रकार स्वयं द्रविड़ भाषाओं को आर्य भाषाओं के दबाव से स्थान छोड़ना पड़ा।

भूमध्यसागरवासी और अरमीनियन स्वरूपी लोग—आदिम निषाद या मुण्डा जातियों के बाद भारत में भूमध्यसागर के तटवासी मनुष्यों की कई लहरें आईं। उनकी एक आरम्भिक धारा अपनी संश्लिष्ट भाषा के साथ गंगा की अन्तर्वेदी की ओर बढ़ आई, जहाँ उसने आरम्भिक मुण्डा जातियों के साथ घुल-मिल-कर उनकी आग्नेय भाषाओं को प्रभावित किया, जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है। उन्होंने नौ-प्रचार, कृषि और अनगढ़ पत्थरों के भवन-निर्माण की नींव डाली। पीछे से भूमध्यसागरीय आगन्तुक लोगों ने अपनी उस उन्नत संस्कृति और सभ्यता को लेकर यहाँ प्रवेश किया जिसका निर्माण उन्होंने तिग्रा-औफरात की अन्तर्वेदी (मैसोपोटामिया) में आरमीनिया के मूल निवासियों के साथ मिलकर किया था। भूमध्यसागर तटवासी लोग लम्बी कपाली के थे जब कि अल्पाइन वंश के आरमीनियन पृथु-कपाल या चौड़ी कपाली के थे। यद्यपि उनकी मुख्य बस्ती आरमीनिया और अनातोलिया में थी वे थोड़े-बहुत भूमध्यसागर तटवासी लोगों के साथ घुल-मिल गए, और एशिया माइनर और मैसोपोटामिया में फैल गए; यहाँ तक कि सुमेर देश की जनता में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस प्रकार सुमेर की जनता भूमध्यसागरीय लम्बे कपाल और आरमीनिया के चौड़े कपाल वाले लोगों के मिश्रण से बनी थी।

ये लोग विश्व के प्राग् ऐतिहासिक मनुष्यों में सभ्यता के आदि निर्माण-

कर्त्ता के रूप में पर्याप्त महत्त्व रखते हैं। उनकी वह सभ्यता फारस की खाड़ी और सीरिया के बीच के उपजाऊ प्रदेश की देन थी। यह सभ्यता चौथी सहस्राब्दी के अन्त में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कला, नागरिक-जीवन की स्वच्छता और रहन-सहन की सुख-सुविधाओं की दृष्टि से, ऊँची कोटि पर पहुँच चुकी थी। इसकी भाषा द्रविड़ परिवार की थी और प्राग् ऐतिहासिक मैसोपोटामिया की लिपि से मिलती-जुलती विशेष प्रकार की चित्र-लिपि का उपयोग करती थी। भारतवर्ष में, विशेषतः तामिल लोगों में, ऊपर लिखी हुई भूमध्यसागरीय और आरमीनियन दो धाराओं का मिश्रण हुआ है। सम्भवतः भारत और मैसोपोटामिया के बीच समुद्री-मार्ग से सीधा सम्पर्क था। मैसोपोटामिया और सिन्धु-उपत्यका के बीच स्थल-मार्ग से सम्पर्क इन दो प्रदेशों में कुछ एक-जैसी वस्तुओं की प्राप्ति से और बलूचिस्तान में ब्राहुई भाषा के अस्तित्व से, सिद्ध होता है। ब्राहुई भाषा सूचित करती है कि मोहेंजोदड़ो के प्राचीन अधिवासी द्रविड़ भाषा-भाषी थे और सम्भवतः इस देश को सभ्यता की देन उन्होंने ही दी।

पर्वत प्रदेशीय (अल्पाइन)—पृथु-कपाल एवं तुंग-नासिक की विशेषताओं से युक्त जिस सूरत-शक्ल के व्यक्ति पूर्व में बंगाल एवं पश्चिमी भारत में विशेष रूप से पाए जाते हैं, उनके अस्तित्व की व्याख्या मध्य एशिया के पामीर पर्वत के प्रदेश से इस देश में आने वाली एक जन-धारा के द्वारा की जा सकती है। इस पृथु-कपाल जाति के लोग, जो यूरोपीय-एशियाई पर्वतीय (अल्पाइन) वंश के थे, सिन्धु घाटी की ओर उतरे और वहाँ की मोहेंजोदड़ो सभ्यता को उखाड़ डाला और वे ही लोग भारत के पश्चिमी किनारे की ओर फैलते हुए वर्तमान पृथु और मराठा जाति के पूर्वज बने। इन्होंने ब्राहुई लोगों में भी पृथु-कपाल जाति के अंश का प्रवेश किया। फिर वही लोग मैसूर का पठार पार करते हुए और भी दक्षिण में घुस गए, किन्तु मलाबार तट एक ओर बचा रह गया जिसके कारण वहाँ द्रविड़ भाषा-भाषी प्राचीन लोगों की सभ्यता सर्वोत्तम रूप में सुरक्षित रह गई। वे लोग भारत-यूरोपीय परिवार की कोई भाषा बोलते थे, जिसके अवशेष अभी तक आर्य-भाषा-परिवार के अन्तर्गत दरद भाषा में पाए जाते हैं जिसे चितराल-निवासी, जो पृथु-कपालीय हैं, बोलते हैं। कालान्तर में ये पृथु-कपालीय लोग, वैदिक आर्यों से खदेड़े जाने पर, गंगा की अन्तर्वेदी में होते हुए चपटे मस्तक की बनावट को पूर्व की ओर बंगाल तक लिये हुए चले गए।

द्रविड़—इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता का सम्बन्ध द्रविड़ भाषा-भाषी उन लोगों से था जो भूमध्यसागर से आये थे और जिनमें आरमीनिया के निवासियों का रक्त भी मिला था और जिनकी उन्नत

सभ्यता मध्य पूर्व में विकसित हुई थी। भारत में भूमध्यसागरीय एवं आरमीनियन लोगों की इस आरम्भिक संस्कृति को हम वेद से पूर्वकाल का हिन्दू-धर्म कह सकते हैं, जिसकी कई विशेषताएँ वही थीं जो बाद के हिन्दू-धर्म में पाई जाती हैं। यह सभ्यता इतनी सशक्त थी कि इसने वैदिक सभ्यता पर भी अपनी छाप डाली। ऋग्वेद (१।६) में पुर, धन और दूध से नहाने वाली स्त्रियों के वर्णन में हमें उस सभ्यता की समृद्धि का संकेत मिलता है। ऋग्वेद के आर्येतर 'अनास' (चपटी नाक वाले) लोग आद्य निषाद-वंशी थे, जिससे यह अनुमान होता है कि भील आदि के रूप में वे लोग पहाड़ों और जंगलों में भरे हुए थे, यद्यपि भूमध्यसागरीय और पर्वतीय अल्पाइन वंश के लोग यहाँ आ चुके थे। अथवा वे लोग ऋग्वेद-पूर्व की सभ्यता का ह्रास होने से सिन्धु-उपत्यका के आधिपत्य से मुक्त भी हो सकते हैं। ऋग्वेद में वसिष्ठ और विश्वामित्र की भिड़न्त की कहानी दो संस्कृतियों के विरोध को सूचित करती है, जिनका एक-दूसरे से सम्मिलन क्षत्रिय के ब्राह्मण बन जाने से ज्ञात होता है। बाद की अनुश्रुतियों में आर्येतर ऋषियों का भी उल्लेख है। उत्तर-वैदिक युग की ब्राह्मी लिपि का मूल मोहेंजोदड़ो की चित्र-लिपि से समझा जाता है। काफी पहले १८६७ में ही श्री ई० टॉमस ने अनुमान किया था कि आर्यों ने विभिन्न देशों में भ्रमण करते हुए अपनी किसी लिपि का आविष्कार नहीं किया, किन्तु जिस देश में वे जाकर बसे वहीं की लिपि को अपनी भाषा लिखने के काम में ले लिया। बहुत समय तक इस मत को किसी ने मान्यता न दी और ब्राह्मी लिपि का उद्‌गम सामी या म्लेच्छ लिपियों से खोजा जाता रहा और ऐसा समझा गया कि ब्राह्मी लिपि ईसा से एक सहस्राब्दी पूर्व फिनीशिया से यहाँ लाई गई। अन्त में ६० वर्ष बाद अध्यापक लैङ्गडन ने सिद्ध किया कि ब्राह्मी अक्षर सिन्धु की चित्र-लिपि से बने हैं जिसका प्रयोग आर्यों से पूर्व सिन्धु-घाटी में रहने वाले लोगों ने अपने मुद्रा-लेखों में किया था। वे लिखते हैं, "आर्य संस्कृत-विद्वानों ने इन चिह्नों का अपनी भाषा के अनुसार सांकेतिक मूल्य रखा। इसका तात्पर्य यह है कि आर्य लोग उन चिह्नों का अर्थ जानते थे। उसे जानकर उन्होंने उनके वाच्यार्थों का संस्कृत में अनुवाद किया और उन संस्कृत शब्दों के अनुसार प्रत्येक लिपि-चिह्न का वर्णमाला में मूल्य या संकेत निश्चित कर दिया।"

इससे विदित होगा कि द्रविड़ भाषा-भाषी लोग आर्यों के यहाँ आने से पूर्व भारत के सबसे हाल के अधिवासी थे। वे उत्तर-पश्चिम से आये थे। उन्होंने अपनी भाषा के चिह्न ब्राहुई जाति में छोड़े (जो मोहेंजोदड़ो के अवशेषों को अपने पूर्वजों की कृति मानती है) और वे अपने साथ मैसोपोटामिया, एशिया-माईनर और पूर्वी मध्य-सागर की संस्कृति लेकर आये थे। कभी-कभी द्रविड़ भाषा के स्थान-नाम

मैसोपोटामिया और ईरान में मिल जाते हैं और मितनी लोगों में बोली जाने वाली एक प्राचीन बोली (खरियन) से दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं की गहरी समानताएँ हैं।

अतएव तथ्य यह जान पड़ता है कि आर्यों के द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० में यहाँ आने से पहले हमारा देश मुण्डा या शवर जातियों का एक जमघट मात्र न था, जैसा कि अब तक समझा जाता रहा, बल्कि सिन्धु-उपत्यका में और सम्भवतः गंगा की अन्तर्वेदी में भी यहाँ एक ऊँची सभ्यता थी जो तुलना में मैसोपोटामिया की सभ्यता की टक्कर की थी और जिसका उसके साथ आदान-प्रदान भी था।

उत्तर से दक्षिण की ओर उनके हटने के अवशिष्ट चिह्न—द्रविड़ लोग आर्यों के सामने हटते हुए और अपनी शक्ति के प्रमाण उत्तर में छोड़ते हुए दक्षिण की ओर बढ़े और अन्त में वहीं बस गए। द्रविड़ भाषाओं के शब्द और अन्य प्रमाण वैदिक संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में तथा उत्तर भारत की आधुनिक देशज बोलियों में भी पाए जाते हैं। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि भारत-यूरोपीय बोली में, जब वह भारतवर्ष में आई, एक परिवर्तन हुआ, जो केवल द्रविड़ परिवार की भाषाओं के कारण हो सकता था। यह परिवर्तन ऋग्वेद में दन्त्य वर्णों के अतिरिक्त मूर्धन्य के आ जाने से सूचित होता है जो न तो अवेस्ता की भाषा में है और न भारत-यूरोपीय अन्य सब भाषाओं में। द्रविड़ों के उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमशः प्रवास करने के फलस्वरूप द्रविड़ भाषा और संस्कृति के कुछ-कुछ अवशेष जहाँ-तहाँ द्वीपों की तरह बच गए, जैसे राज-महल प्रदेश में माल और सौरिया नामक पहाड़ी जातियों में, छोटा नागपुर के उराँव (जिनकी संख्या ८ लाख है) और गौंडों में (जिनकी संख्या ३० लाख है), एवं उड़ीसा के कौंध लोगों में।

द्रविड़ भाषा-भाषी जनसंख्या में तीन प्रकार के जातीय तत्त्व पाए जाते हैं। (१) लम्बा-कपाल पृथु-नासिका वाले या वेद्दा-मुण्डा लोग, (२) लम्बा-कपाल तुंग-नासिका वाले लोग अर्थात् भूमध्यसागरीय सूरत-शक्ल के लोग, और (३) पृथु-कपाल तुंग-नासिका वाले या पर्वतीय (अल्पाइन) जाति के लोगों की सूरत-शक्ल वाले। मोटे तौर पर दक्षिण के पठार में पृथु-कपाल लोगों की बस्ती है, जब कि उससे भी नीचे के प्रदेश में और दोनों समुद्र-तटों पर लम्बी कपाली के लोग रहते हैं। पृथु-कपाल लोगों का अधिकाधिक सम्बन्ध उन्नत नासिका वालों से और उन्नत नासिका वालों का संस्कृत भाषा से पाया जाता है, जैसा कि कन्नड़, मलयालम, मराठी और तेलुगू लोगों में। किन्तु तमिल, जिसका संस्कृत से सबसे कम सम्बन्ध है, लम्बी कपाली और पृथु-नासिका वाले लोगों द्वारा बोली जाती है।

चौड़ी कपाली वाले पर्वतीय (अल्पाइन) सूरत-शक्ल के लोग पश्चिमी

वेला-तट के किनारे गुजरात से कुर्ग तक फैले हुए हैं और बनारस से बिहार तक विशेषतः बंगाल में भी उनकी बस्ती है जहाँ मध्य बंगाल और गंगा के नदी-मुख प्रदेश में उनका सम्बन्ध ऊँची नाक वालों से है। उत्तर और पूर्व में उनकी बस्ती क्रमशः कम होती चली गई है। यों बम्बई से बंगाल तक एक ही जातीय तत्त्व के निवासियों का ताँता फैला हुआ है। बंगालियों के मूल उद्गम को समझने के लिए हमें पश्चिम की जन-संख्या पर विचार करना होगा, न कि पूर्व की या किरात वंश की ओर, जिनकी कुछ प्रधान विशेषताएँ जैसे शरीर पर बालों की कमी, बंगालियों में नहीं पाई जातीं।[1] (देखिए डा० बी० एस० गुहा का भाषण जो उन्होंने १६२८ में भारतीय विज्ञान परिषद् की नृविज्ञान-शाखा के सभापति पद से दिया।)

---

१. यह अध्याय अधिकतर डॉ० जे० एच० हटन द्वारा भारतीय जन-गणना की १६३१ की रिपोर्ट, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ ३५७-३६६ और ४३६-४६० में प्रस्तुत की गई यथाकाल सिद्ध सामग्री के आधार पर लिखा गया।

'वनस्पतियों का आदि उद्भव' नामक नये विज्ञान से संस्कृतियों के उद्गम पर भी कुछ अप्रत्याशित प्रकाश पड़ता है। संस्कृति न केवल मनुष्य बल्कि पौधों और पशुओं से भी सम्बन्धित है। सभ्यता के मूल स्थान का पता लगाने के लिए यह देखना भी जरूरी है कि धान्य और पशु कहाँ सबसे पहले मनुष्योपयोगी तथा पालतू बनाये गए। इसकी खोज रूसी वैज्ञानिक कर रहे हैं। उनके नेता वाविलाव हैं जो रूस में क्रियात्मक वनस्पति-विज्ञान और पौधों के पोषण-विभाग के अध्यक्ष हैं। उनके अनुसार गेहूँ की दो जातियाँ हैं जो आसानी से एक-दूसरे के साथ गर्भित नहीं होतीं। ये दोनों जातियाँ पृथक्-पृथक् स्थानों में उत्पन्न हुईं। ऐसा एक केन्द्र अबिसीनिया में और दूसरा दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान में है जहाँ गेहूँ के अधिकांश महत्त्वपूर्ण भेदों का जन्म हुआ। यह प्रदेश हिन्दूकुश और हिमालय के बीच का फैला प्रदेश है जिसमें पंजाब और पड़ोस का पहाड़ी इलाका भी शामिल है। इन वैज्ञानिकों का कहना है कि अबिसीनिया उस कृषि का मूल स्थान था जिससे मिस्री सभ्यता का निर्माण हुआ। दूसरा प्रदेश न केवल भारतीय और मैसोपोटामिया के गेहूँ का जन्म-स्थान था बल्कि उसके उन महत्त्वपूर्ण प्रकारों का भी जो यूरोप और उत्तरी अमेरिका में होते हैं। रोटी के उपयोगी गेहुँओं के अलावा और भी बहुत से कृषि-पौधों का जन्म यहीं हुआ, जैसे दालें, रुई,

: ३ :

भौगोलिक और सामाजिक पृष्ठभूमि

भारत का मुख्य इतिहास आर्यों के भारत में आगमन से आरम्भ होता है। यह आवश्यक है कि हम शुरू में ही उस इतिहास के स्थूल आधार की भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन करें जिन्होंने युगों तक उस इतिहास की धारा को प्रभावित किया। रिचर्ड हकलुइत की एक पुरानी उक्ति है कि "भूगोल और तिथिक्रम इतिहास के लिए चाँद-सूरज जैसे या दाहिनी आँख-बाईं आँख जैसे हैं।"

भारतीय भूगोल की मुख्य विशेषताएँ, जिन्होंने उसके इतिहास पर प्रभाव डाला, ये हैं—(१) पृथकत्व, (२) सम्पर्क, (३) विशालता, (४) विविधता और (५) एकता।

पृथकत्व—किसी भी महाद्वीप के शायद ही किसी भाग को प्रकृति ने इस प्रकार से देश के रूप में स्पष्ट रूप से अलग और लक्षित बनाया होगा जैसा कि भारतवर्ष को। उत्तर में पर्वतों द्वारा सुरक्षित और दक्षिण में समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण, भारतवर्ष निस्सन्देह भौगोलिक इकाई है और ये स्पष्ट परिचिह्नित सीमाएँ उसे सारे संसार से अलग निरूपित करती हैं। हिमालय पूर्व से पश्चिम तक १६००

सन, शलजम, गाजर, आड़ू आदि।

हाँ यह भी सम्भव है कि सभ्यता का विकास दूसरे ही धान्यों से हो गया हो जैसे मक्का से, किन्तु मक्का में बी।२ नामक प्राण-तत्त्व (विटेमिन) की बहुत कमी है। सिर्फ मक्का खाने वाले लोगों को Pellagra नामक त्वचा रोग हो जाता है। यह एक बड़ा कारण है जिससे मध्य अमेरिका की मक्का पर आश्रित सभ्यता प्राचीन विश्व की गेहूँ, जौ और चावल खाकर पनपने वाली सभ्यताओं के समान ऊँची न उठ सकी। इन कारणों से तो यह माना जा सकता है कि भारतवर्ष ही सभ्यता की आदि जन्मभूमि है। (जे० बी० एस० हाल्डनेर कृत Inequality of Man, पृष्ठ ४६-४८, ७१-७६)।

मील लम्बी और औसतन ढाई सौ मील चौड़ी एक अखण्ड दोहरी दीवार के रूप में है। इस उत्तरी दीवार के उस पार तिब्बत की ओर तीन महानदों का उद्गम है—सिन्धु, शतद्रु (सतलज) और ब्रह्मपुत्र। दक्षिणी दीवार के इस तरफ भारत की ओर गंगा व उसकी उत्तरी सहायक नदियों के उद्गम हैं। हिमालय की अर्गला के पूर्वी कोने पर कई पहाड़ी शाखाएँ फैली हुई हैं, जैसे पटकोई, नाग, लुशाई की पहाड़ियाँ जो घने जंगलों से ढकी हैं और ब्रह्मा देश की इरावदी नदी की घाटी को भारतीय मैदानों से अलग करती हैं एवं चीन से भारत आने के सीधे मार्ग को बीच में रोकती हैं। हिमालय के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर सबसे ऊँचे पहाड़ी डाणों का एक कोण बनता है। उसकी एक भुजा कराकुर्म पर्वत है, जिसमें गॉडविन ऑस्टिन नामक चोटी ऊँचाई में संसार में दूसरे स्थान पर है। दूसरी भुजा हिन्दुकुश है। ये दो भुजाएँ लेह, गिलगित और चित्राल के प्रदेश को घेरे हुए हैं जो कि भारतीय राष्ट्र की उत्तर में आखिरी रक्षा-चौकियाँ हैं। हिन्दुकुश के उस पार सफेद कोह और दक्षिण में सुलेमान पहाड़ भारत को अफ़गानिस्तान से अलग करते हैं और खीरथर की पहाड़ियाँ हैं जो उसे बिलोचिस्तान से पृथक् करती हैं।

दक्षिण की ओर का समुद्र प्राचीन समय में भारत को अन्य सब देशों से अलग रखता था। केवल शान्ति के समय समय-समय पर कुछ व्यापारिक-सम्पर्क विदेशों के साथ होता था, जैसा कि पाल से चलने वाले पोतों से एवं किनारे-किनारे खेने वाली उस युग की धीमी और भयभीत करनेवाली यात्राओं से सम्भव था। समुद्र की चौड़ी खाई उस पार से हो सकने वाले हमलों से भी देश की भरपूर रक्षा करती रही, जब तक कि आशा अन्तरीप की परिक्रमा करके यूरोप के लोग यहाँ न आ धमके। १४६८ में वास्को-डि-गामा के तीन छोटे जहाज कालीकट में आ पहुँचे और उन्होंने सबसे पहले समुद्री मार्ग से आने वाले साहसी लुटेरों के लिए रास्ता खोल दिया, यह देश को जीत लेने का एक मार्ग था जिस पर बाद में चार यूरोपीय शक्तियाँ अर्थात् पुर्तगाली, हालैण्डवासी, फ्रान्सीसी और अँग्रेज एक के पीछे एक आईं और सफल हुईं। अब तो नौसन्तरण विद्या ने समुद्र को यातायात और आक्रमण का राज-मार्ग बना डाला है और देश का नियन्त्रण भी समुद्र के ऊपर अधिकार रखने पर निर्भर हो गया है। बम्बई, कराची, मद्रास, कलकत्ता, कोलम्बो आदि बन्दरगाहों का अब भारत की रक्षा के लिए भारी महत्त्व हो गया है। कोलम्बो, जहाँ भूमध्यसागर, आशा अन्तरीप, आस्ट्रेलिया और सिंगापुर के चारों समुद्री-मार्ग मिलते हैं, भारतीय महासागर में समुद्री सैनिक शक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष का दूसरे देशों के साथ समुद्री सम्पर्क होने में और भी कई प्राकृतिक और स्थायी बाधाएँ हैं, जैसे पश्चिमी किनारे पर सह्याद्रि

पर्वत माला, एवं पूर्वी किनारे पर प्राकृतिक बन्दरगाहों की कमी, किनारे के पास समुद्र का छिछलापन और किनारे पर खड़ी चट्टानें। भारत का समुद्री-तट सम्भवतः सैनिक शक्ति के रूप में उसके उत्कर्ष प्राप्त करने के अनुकूल नहीं है। देश का अधिकांश तो भीतर घुसा हुआ स्थल भाग है और स्वभावतः मनुष्य भी कूप-मण्डूक हैं। नार्वे या इंग्लैण्ड की तरह जहाँ देश का कोई भाग समुद्र से दूर नहीं है, भारत का समुद्री-तट उन गहरी खाड़ियों, खातों और नदी-मुखों से रहित है, जो धरती के भीतरी भागों को समुद्र के निकट ले आती हैं। जो थोड़े-बहुत खाते और खाड़ियाँ इस देश में हैं वे भी बड़े बन्दरगाहों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इस समय भारतवर्ष में केवल बम्बई ही अच्छा प्राकृतिक बन्दरगाह है। मद्रास और कोलम्बो कृत्रिम बन्दरगाह हैं और कलकत्ता तो नदी-मुख पर बसा है। इस प्राकृतिक बाधा के कारण भारतीय पोत और नाविक-विद्या ने इतिहास के निर्माण में कम भाग लिया।

जब कि एक ओर भारतवर्ष बाह्य संसार से अलग है दूसरी ओर उसके अपने कुछ भाग भी एक दूसरे से पृथक् हैं। विन्ध्य पर्वत-शृंखला और उसके घने जंगल सदा से उत्तर और दक्षिण-भारत के बीच दीवार की तरह रहे हैं। प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आर्यों के दक्षिण की ओर फैलने के मार्ग में बहुत दिनों तक विन्ध्याचल की बाधा बनी रही। आज भी जातीय-तत्त्व, भाषा और सामाजिक रीति-रिवाजों में भारत के ये दो भाग एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। उदाहरण के लिए लगभग ५०० ई० पू० प्राचीन बौद्धायन के धर्म-सूत्र में कहा गया है कि दक्षिण को उत्तर से अलग करने वाली प्रथा ममेरी बहिन के साथ विवाह-सम्बन्ध है। जो अभी तक दाक्षिणात्यों में चालू है। सच तो यह है कि दक्षिण का अपना अलग ही इतिहास रहा, जिसमें उत्तर-भारत के साथ सम्पर्क के अवसर कम थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, अकबर और औरंगजेब के समान बिरले ही शासक हुए जिनके राज्य में उत्तर और दक्षिण दोनों ही सम्मिलित थे। दक्षिण की अपेक्षाकृत पृथकता के कारण ही मुस्लिम आक्रमणों से उसकी रक्षा हुई, जिन्होंने कई शतियों तक उत्तरीय भारत को हिला दिया था। विन्ध्याचल की शृंखला, जिसमें सतपुड़ा भी शामिल है और नर्मदा एवं ताप्ती की नदी-श्रेणियाँ भी जिसका भाग हैं, खम्भात की खाड़ी से राज-महल की पहाड़ियों तक फैली है। भारत के मध्य भाग में विन्ध्या और सतपुड़ा के छोरों से मध्यप्रदेश का पठार बना है। पूर्व की ओर पूर्वी घाट की पहाड़ियों तक गोदावरी और महानदी के बीच का प्रदेश भी, जो उत्तर की तरफ सोन नदी की घाटी से मिल जाता है, पहाड़ियों और जंगलों से घिरा होने के कारण सबसे अलग है, जहाँ आदिवासी लोग सभ्यता से दूर सन्थाल परगना एवम् मध्य भारत के पहाड़ों

और जंगलों में रहते आए हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (लगभग २००० ई० पू०) के युग में भी आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब जैसे अनार्य लोग आर्यावर्त की सीमा पर विन्ध्याचल के जंगलों में पूर्व की ओर निवास करते हुए कहे गए हैं। सुदूर दक्षिण में अन्नामलाई, पलनी और एलामलाई पहाड़ियाँ (कारडमम हिल) केरल राज्य को अलग करती हैं जिसमें आधुनिक काल में कोचीन और ट्रावनकोर के रजवाड़े हैं। इस भूमिगत पृथकत्व का प्रभाव सामाजिक रीति-रिवाजों पर पड़ा; जैसे माता से चलने वाला दायभाग, (जिसके अनुसार बहन का लड़का या भानजा किसी पुरुष का उत्तराधिकारी बनता है) जो प्रथा आर्य एवं भारत के अन्य भागों के सामाजिक रीति-रिवाजों से अलग है। इस प्रकार के पृथकत्व का दूसरा उदाहरण दक्षिण-भारत के दो घनी आबादी वाले प्रदेशों का एक-दूसरे से अलग होना है, अर्थात् मद्रास से तञ्जोर तक का कर्नाटक का मैदान और कोचीन-कालीकट के बीच का मालाबार का समुद्रतट। इन दोनों प्रदेशों के विलगाव की दीवारों में सैन्ध फोड़कर उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में लाने वाला मार्ग कोयम्बतूर के पास का पालघाट नामक दर्रा है, जिसके द्वारा कर्नाटक की उपजाऊ भूमि की वस्तुएँ मालाबार के समुद्री तट पर स्थित बन्दरगाहों तक पहुँचती हैं। चोलमण्डल की ओर का समुद्री कगार और मालाबार तट के पीछे फैली हुई सह्याद्रि पर्वत माला इन दो दीवारों ने दक्षिण भारत को अपेक्षाकृत अन्य प्रदेशों से अलग रखा। इनके बीच में पालघाट की सन्धि ने पारस्परिक सम्पर्क का द्वार खुला रखा, जिसके कारण उसका बहुत महत्त्व था।

सम्पर्क—इस भौगोलिक पृथकत्व के होते हुए भी भारतीय समाज का अंग विलक्षण रूप से कई प्रकार की मिलावट से या प्रथक् तत्त्वों से बना है, जो निश्चय ही बाहरी जगत् के साथ भारतवर्ष के सम्पर्क और देशान्तरों से लोगों के यहाँ आकर बसने और आक्रमणों का परिणाम है। यों किसी हद तक भारतीय इतिहास ने अपने भूगोल को झूठा सिद्ध कर दिया है। विचार और जन-संख्या के विश्व-व्यापी आन्दोलनों ने भारतवर्ष की पृथकता को कुतरकर उसकी सभ्यता में कई जातीय और साँस्कृतिक अंशों को मिला दिया है, जो मोटे तौर पर इस भाँति हैं; (१) प्राक्द्रविड़, (२) द्रविड़, (३) आर्य, (४) ईरानी, (५) यवन, (६) रोमक, (७) शक, (८) हूण, (९) इस्लाम और (१०) यूरोपीय।

प्रश्न यह है कि इन सब विदेशी प्रभावों का यहाँ आगमन कैसे सम्भव हुआ? वे कौनसे मार्ग थे जिनसे ये प्रभाव भारत में घुस सके? उत्तर-पूर्वी सीमा में ऐसी दरारें बहुत थोड़ी हैं जिनसे भारी मात्रा में कोई भारी प्रभाव या हलचल यहाँ आ सकती। जेलप, नाटू और डोंकिया के तीन पहाड़ी जोते, जो सिक्किम से

तिब्बत में जाते हैं, इतने ऊँचे हैं कि उनसे बहुत कम यातायात छनकर आ सकता है। पूर्व में ब्रह्मपुत्र की घाटी तिब्बत की ओर से भारत में रास्ता बनाती है और मीकाँग, सालविन और इरावदी चीन की ओर से; लेकिन इस राह से भी भारी यातायात और विदेशी आगमन घने जंगल और भयंकर जंगली जानवरों के कारण तथा उत्तरी बर्मा को अँग्रेज़ों के दखल कर लेने के कारण सम्भव नहीं है। इस दिशा में भारतवर्ष की सैनिक रक्षा एक प्रकार से रामभरोसे छोड़ दी गई है।

उत्तर की तरफ १५०० मील लम्बी हिमालय की दीवार बिलकुल दुर्गम और अप्रवेश्य है। पामीर की ओर से गिलगित के रास्ते पर कुछ दर्रे हैं और तिब्बत की ओर से लेह के रास्ते एवं सतलुज की घाटी से भारत में आने के लिए मार्ग हैं। मुज़ताग़ (बरफानी पहाड़), कराकुर्रम (काला पहाड़) और चङ्चेन्मो के तीन १८००० फुट से ऊँचे दर्रों में होकर थोड़ा-बहुत माल-असबाब या यातायात पंजाब और पूर्वी तुर्किस्तान या तिब्बत के बीच आता-जाता है। लेकिन ये मार्ग व्यापारियों के काम के हैं, सैनिक आक्रमण या विदेशी कबीलों के आगमन के लिए उपयोगी नहीं। मध्यकालीन बौद्ध चीनी यात्री भी, जो श्यू-आन च्वाङ्ग की भाँति स्थल मार्ग से आते थे, इन दर्रों से भारत में नहीं आए। वे पहले तिब्बत के उत्तर में लम्बे रेगिस्तानी रास्तों से होते हुए पश्चिम में वंक्षु नदी पर जा पहुँचते थे और वहाँ से हिन्दूकुश पार करके भारत का मार्ग पकड़ते थे।

दक्षिण में समुद्री-मार्ग से भारत में विदेशी प्रभाव सदा छनकर आता रहा और शान्तिमय व्यापारिक सम्पर्क भी चलता रहा; पहले मिश्र और बावेरू (बेबीलन) से, और बाद में रोम साम्राज्य के साथ। कुछ भारतीय वस्तुएँ, जैसे नील, इमली की लकड़ी, या मलमल, जिसमें ममी लपेटी गई थी, मिश्र की समाधियों में मिली हैं। उस लूट के माल में जो मिश्र के फरऔह् जहाज़ में भरकर ले गए थे हाथी दाँत, सोना, कीमती रत्न, चन्दन और बन्दर शामिल थे, जो भारत से आये थे। कुछ विद्वानों के विचार से 'बाइबिल' में भी भारत के साथ प्राचीन व्यापार के प्रमाण उन वस्तुओं के नामों के रूप में मिलते हैं जो उस समय केवल भारत ही विदेशों को भेजता था, जैसे बहुमूल्य रत्न सुवर्ण, हाथी दाँत, आबनूस की लकड़ी (सं० कोविदार), मोर और मसाले, जो सुलेमान के जहाज़ पर लदे हुए व्यापारी माल का अंश थे। भारतीय सागौन की लकड़ी उर नामक राजधानी के अवशेषों में मिली है और बावेरू की भाषा में मलमल का नाम 'सिन्धु' था। 'बावेरू-जातक' नामक पाली पुस्तक में (लगभग ५०० ई० पू०) भारतीय व्यापारियों के बावेरू के बाज़ारों में मोर ले-जाने का निश्चित उल्लेख है। चावल, मोर और

चन्दन-जैसी विशिष्ट भारतीय वस्तुओं का ज्ञान यूनानियों को उनके भारतीय अर्थात् तमिल नामों से था। क्योंकि भारत और बावेरू के बीच का व्यापार ४८० ई० पू० में बन्द हो चुका था, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि अमुक वस्तुएँ उससे भी बहुत पहले भारत से बावेरू पहुँचती थीं, जिसके फलस्वरूप वे ४६० ई० पू० के लगभग यूनान में पहुँच सकीं और सोफोक्लीस (४६५-४०६ ई० पू०) के समय में, जिस ने उनका उल्लेख किया है, ऐथेन्स नगरी में ये घरेलू वस्तुएँ बन गई थीं। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार इस समस्त प्राचीन व्यापार के मुख्य केन्द्र शूरपारक (सोपारा) और भरुकच्छ (भरूच) नामक कोंकण-तट के दो प्रसिद्ध पत्तन थे। कालान्तर में रोम के साथ भारत का व्यापार जो सम्राट् अगस्तस और नीरो के समय में सबसे अधिक बढ़ा, मुरची पत्तन (मुजिरिस, वर्तमान क्रंगनूर), जो मलाबार तट पर था, और कावेरी पत्तन (पुहार), जो चोलमण्डल तट पर था, नामक दो केन्द्रों से होता था। यहीं से मसाले, सुगन्धित पदार्थ, रेशम, मलमल, सूती वस्त्र, मोती और रत्न, जिनकी रोम में बड़ी माँग और आवभगत थी, पोतों पर लादकर भारत से रोम ले जाये जाते थे। मोती के व्यापार का केन्द्र पाँड्य देश की प्राचीन राजधानी कोरकई (कोल्कनगर, आधुनिक तिन्नेवली) थी, जो अब बालू से पट गया है। बहुमूल्य रत्नों में वैदूर्य की सबसे अधिक माँग थी, जो कोयम्बतूर और सालिम की खानों में होता है। कोयम्बतूर और मदुरा में रोम के सिक्के भी बहुत मिले हैं। पुराने तमिल ग्रंथों में 'शक्तिशाली यवन और मूक-म्लेच्छों' के तमिल राजाओं की सेवा में रहने का उल्लेख है। आयोनियाँ के यूनानियों के साथ भारत का सम्पर्क होने के बाद 'यवन' शब्द संस्कृत में लिया गया। इसी सम्पर्क के परिणामस्वरूप मालाबार-तट पर यहूदी और ईसाइयों की दो छोटी बस्तियों की नींव पड़ी। मिश्र, बावेरू और रोम का युग समाप्त होने पर दक्षिणी अरब में यमन के सौदागरों ने भारतीय व्यापार में हाथ डाला। ६२२ ई० में इस्लाम का उदय होने के बाद अरब सागर और अफ्रीकी तटों के सब बन्दरगाह अरबों के नियन्त्रण में आ गए और फारस की खाड़ी से भारत और चीन तक का समुद्र-पथ भी उन्हीं के अधिकार में चला गया। पन्द्रहवीं शती के अन्त तक भारत का पश्चिम के साथ सम्बन्ध बस इतना ही था कि भारतीय लोग अपने पश्चिमी समुद्र-तट के किनारे का व्यापार स्वयं कर लेते थे। उसके बाद तो नौ-संतरण-विज्ञान की समुद्र पर विजय हुई और यूरोपीय जातियों के भारत में घुस आने का मार्ग खुल गया, क्योंकि उनसे पहले के आक्रमणकारी और विजेता तो केवल उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्गों से ही आ पाते थे।

भारत का उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रदेश देखने में पर्वतों से रक्षित है, फिर भी

वह अत्यधिक भेद्य सीमा प्रदेश है जिसकी रक्षा के लिए हमेशा मँहगी तैयारी करनी पड़ती है। इस भाग के सुरक्षित न होने का एक कारण यह भी है कि यह अत्यन्त लम्बी सीमा-पंक्ति लड़ाकू कबायली इलाकों में से होती हुई अफ़ग़ानिस्तान तक चली गई है, जिसके उस पार यूरोप की स्थल-शक्तियों का खटका बना रहता है।

उत्तर-पश्चिमी सीमा का पूरा महत्त्व समझने के लिए भारत से मिली हुई सरहद से आगे बढ़कर ईरानी पठार के मानचित्र को भी, जिसमें अफ़गानिस्तान बिलोचिस्तान और ईरान ये तीन पड़ौसी देश सम्मिलित हैं, समझना होगा। यह पठार उत्तर-पूर्व में पामीर की अगम्य ऊँचाई से जा मिला है और उत्तर-पश्चिम में आरमीनियाँ की, परन्तु और दिशाओं में सुगम है जैसे ईरान की खाड़ी और अरब सागर की ओर, एवं भारत और उत्तर में तुर्किस्तान या तूरान की ओर। अतएव भारत की रक्षा के लिए ईरान की खाड़ी और अरबसागर का नियन्त्रण आवश्यक है और ईरानी पठार के दक्षिण-पूर्व की ओर किसी भी विदेशी शक्ति के अड्डे न होने चाहिएँ। अफ़गानिस्तान की ओर से काबुल नदी के रास्ते और सीस्तान की ओर से भारत में पहुँचना सरल है, और यह मानी हुई बात है कि दोनों स्थानों से विदेशी शक्तियों को अलग रखना चाहिए। हिन्दूकुश जो सिन्धु और वंतु के बीच का जल विभाजक है दोनों ओर से सुगम है और नदियों के किनारे भारत तक पहुँचने के कई रास्ते वहाँ से फूटते हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध और चालू खैबर का मार्ग है। खैबर का मार्ग काबुल से शुरू होकर काबुल नदी के किनारे-किनारे आता है। अफ़गानिस्तान की ओर से आने वाली कुर्रम नदी कुर्रम दर्रे में होकर बन्नू ज़िले में होती हुई सिन्धु में मिल जाती है। तोची की घाटी गज़नी और भारत को मिलाती है, जिसमें बहती हुई तोची नदी वज़ीरिस्तान के पहाड़ों से निकलकर कुर्रम में मिल जाती है। गोमल की नदी और घाटी अफ़गानिस्तान और डेरा इस्माइल खाँ के बीच में है। उस पार, जहाँ अफ़गानिस्तान के पहाड़ों की ढलान पश्चिम की ओर है, एक दूसरा रास्ता उनकी जड़ में से होता हुआ खुले पठार के ऊपर हेरात से कन्दहार तक चला गया है, जहाँ से सीस्तान भी निकट ही है और जो कन्दहार से दक्षिणपूर्व की ओर पथरीली भूमि में होता हुआ सिन्धु के खादर में जा मिला है। भारत की ओर आने वाली अन्तिम पहाड़ी दर्रे के नाम पर इस रास्ते का नाम बोलन-मार्ग है। ईरान को भारत से मिलाने वाली यातायात की अन्तिम कड़ी बिलोचिस्तान के समुद्री-तट के पास से होती हुई मकरान के सामने वाले क्षेत्र में से गुज़रती है। यह मार्ग इतिहास में प्रसिद्ध है, क्योंकि सिकन्दर ने ३२५ ई० पू० में भारत से लौटते हुए (रानी श्मीरमा और सम्राट् कुरुष इन पूर्व विजेताओं के उदाहरणों को लेते हुए) इसी

मार्ग को चुना था; किन्तु इससे उसकी सेना का सर्वनाश हो गया। कालान्तर में अरब के व्यापारी इस मार्ग से बहुत आते-जाते थे। खैबर और बोलन के प्रधान मार्गों को आड़े तौर पर जोड़ने वाला एक मार्ग कन्दहार और काबुल के बीच में ग़ज़नी के आस-पास से गुज़रने वाली बहुत सी नदी-घाटियों की एक शृङ्खला है। सिकन्दर के द्वारा बलख़ और भारत की चढ़ाइयों में इधर से ही अभियान करने के कारण यह रास्ता इतिहास में प्रसिद्ध है। और अभी हाल में जनरल रौबर्ट्स १८८२ के अफ़गान युद्ध में इसी मार्ग से काबुल से कन्दहार की सहायता के लिए पहुँचे थे। काबुल-कन्दहार पथ की ओर से कई दर्रे भारतीय सीमा प्रदेश की पर्वतीय मेखला में घुसते हैं।

इस भूगोल से प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय इतिहास की बहुत सी घटनाओं की कुञ्जी मिलती है। उत्तर-पश्चिमी सीमा-पर्वतों की दीवार में पड़े हुए ये घट्टे, जिनका अभी उल्लेख किया गया है, सब युगों में शान्तिमय यातायात और उग्र आक्रमण, विस्तृत जातीय प्रसार और आवागमन के लिए मार्ग देते रहे हैं। इन्हीं मार्गों से प्राग ऐतिहासिक युग की जातियाँ भारत में घुसीं, और आर्य, जो भारतीय इतिहास के विधाता हैं आए; और पिछले ऐतिहासिक युगों में अनेक विदेशी आक्रमणकारी प्रविष्ट हुए, जैसे कुरुष् और दारा, सिकन्दर, सिल्यूकस और दिमीत्रियस, शक, पह्लव और कुषाण। इनके सम्बन्ध में भारत और रोम साम्राज्य के बीच में स्थल-मार्ग से व्यापारिक यातायात ज़ोर-शोर से चला, और अन्त में मध्य-युग में भी इसी मार्ग से मुसलमान आए। भारतीय इतिहास की सबसे महत्त्व-पूर्ण शक्ति अर्थात् यूरोपीय लोग ही एकमात्र अपवाद हैं जो इस रास्ते न आकर दक्षिण की ओर के समुद्री-मार्ग से देश में घुसे। आधुनिक काल में भारत की रक्षा-योजना खैबर और बोलन के दो सुभेद्य बिन्दुओं पर दृष्टि रखकर संगठित की गई। भारत की रक्षक सेना दो भागों में बँटी थी—एक उत्तरी सेना, जो खैबर के बचाव के लिए कलकत्ते से इलाहाबाद और दिल्ली को लाँघती हुई पेशावर तक फैली थी, और दूसरी दक्षिणी सेना, जो मद्रास और बम्बई के राज्यों में बोलन मार्ग की रक्षा करने वाली प्रधान चौकी क्वेटा नगर पर दृष्टि रखते हुए फैलाई गई थी, और जिसकी सहायता के लिए ब्रिटेन से भी सैनिक-शक्ति समुद्र के जरिये कराची से पहुँचाई जा सकती थी। भारत की सीमा-रक्षा का एक और मज़बूत उपाय कराची से शुरू होने वाली नॉर्थ वेस्टर्न रेलवे थी, जिसकी शाखाएँ बोलन और खैबर तक फैली हुई थीं, और जिसकी पीठ पर राजपूताना रेगिस्तान की डँड़वार थी।

सभी युगों में भारत की रक्षा के लिए राजपूताना के रेगिस्तान का सैनिक

और सामरिक महत्त्व बता सकना कठिन है। जलविहीन यह मरुभूमि कच्छ के रन्न से उत्तर-पूर्व की ओर ४०० मील लम्बी और १५० मील चौड़ी पट्टी की तरह चली गई है और अपने पीछे अरावली पहाड़ियों के मज़बूत पुश्तों के साथ एक दूसरी रक्षा-पंक्ति बनाये हुए है, ताकि बोलन और मकरान के रास्तों से शत्रुओं का प्रवेश रोका जा सके। एक बार जहाँ खैबर की घाटी पार की, दिल्ली तक मैदान साफ हो जाता है। दिल्ली सारे भारत का ऐतिहासिक मध्य-बिन्दु है। अरावली शृङ्खला के उत्तरी नुक्कड़ पर, जहाँ उत्तर-पश्चिम से आने वाली आक्रमणकारिणी सेनाएँ पंजाब की नदियों के रास्ते आ पहुँचती हैं, यदि हम खड़े हों तो पंजाब के मैदानों से देश के भीतर की ओर जहाँ भारत का हृदय है और जिसमें गंगा-जमुना की अन्तरवेदी शामिल है, आने वाले मार्ग की पूरी नाकेबन्दी की जा सकती है। न तो छठी शती ई० पू० में ईरानी आक्रान्ता भारत के इस कपाट-द्वार तक पहुँच सका और न सिकन्दर ही। उसे व्यास नदी पर ही रुक जाना पड़ा। सिर्फ मुसलमान ही इस द्वार से आगे बढ़ सके, जिसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान में उनके स्थायी पैर जम सके; लेकिन उन्हें भी ७१२ ई० में अरबों की सिन्धु-विजय के दिन से लेकर ११९३ ई० में दिल्ली की पहली सल्तनत स्थापित होने तक ५०० वर्ष लग गए, और तब कहीं वे भारत के सीमा-प्रदेश से आगे बढ़कर, दिल्ली के फाटक में घुसकर देश के हृदय-क्षेत्र में दाखिल हो सके। इतने दिनों तक राजपूत राजाओं ने देश की प्राकृतिक भौगोलिक रचना से लाभ उठाकर उत्तर-पश्चिम से सीधे दिल्ली की ओर बढ़ने वाले मुसलमानी आक्रान्ताओं से लोहा लेकर उन्हें रोके रखा और उनकी चढ़ाइयों के मार्ग में सामने की ओर अड़े रहे। एक बार जब दिल्ली का छत्र टूट गया, तभी मुसलमान देश-भर में सबसे हेंकड़ शक्ति वाले हो गए। "राजपूताना की मरु-भूमि के उस पार, और अफ़ग़ानिस्तान के पठार की जड़ में फैला हुआ सिन्धु नदी का कछार भारत के बहिःप्रकोष्ठ की भाँति है। इस ड्योढ़ी के कोठे में ९०० वर्षों तक मुसलमानों की बहुसंख्या रही। दिल्ली के उत्तर-पश्चिम में, मरुभूमि और हिमालय का मध्यवर्ती जो फाटक है वहाँ युद्ध के मैदान चारों ओर छिटके हुए हैं—जिनमें जमुना के समीप के प्राचीन युद्ध-स्थल हैं, जहाँ आने वाले मुसलमानों ने भारतीय प्रतिरोध पर विजय पाई और सतलज के आसपास की नई रण-भूमियाँ हैं, जिनमें बढ़ती हुई अंग्रेजी शक्ति ने सिक्खों को परास्त किया। यह कोरा संयोग नहीं है कि अँग्रेज वायसराय की ग्रीष्म-राजधानी शिमला, हिमालय की चोटी पर है जहाँ से साम्राज्य के प्राकृतिक नाके और अधिकार के लिए कशमकश का नियंत्रण किया जा सके।" [कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया

१. २४][1]

विशालता—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारत एक अकेला और पृथक् देश है तो भी इसके महान् विस्तार के कारण इसे देश की अपेक्षा महाद्वीप कहना उचित होगा। विस्तार में, रूस को छोड़कर वह सारे यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर है और ग्रेटब्रिटेन से बीस गुना बड़ा है। उसके प्रान्तीय विभाग ही, जैसे पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश, एक-एक करके ग्रेटब्रिटेन से बड़े हैं। बंगाल, बिहार और उड़ीसा इनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल इङ्गलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के बराबर है। बम्बई और मद्रास के राज्य दोनों ही इटली से बड़े हैं और अकेला आसाम इङ्गलैण्ड के बराबर है। क्षेत्रफल के स्थान में यदि जनसंख्या की दृष्टि से देखें तो भी भारत की विशालता कम नहीं होती। सारे संसार की जनसंख्या का पाँचवाँ अंश भारत में रहता है और जितना भूतपूर्व 'ब्रिटिश इण्डिया' था केवल उसी की जनसंख्या अमरीका के संयुक्त राज्य की जनसंख्या से ढ़ाई गुनी अधिक है। बंगाल, उत्तर प्रदेश या मद्रास जैसे प्रत्येक राज्य जनसंख्या में ग्रेटब्रिटेन से अधिक हैं और आसाम जैसे छोटे राज्य की जनसंख्या भी बैलजियम, स्वीडन या हालैण्ड के बराबर है।

विविधता—भारतवर्ष की विशालता का एक परिणाम प्राकृतिक भूगोल और सामाजिक संस्कृति के क्षेत्रों में उसकी विविधता है, जिसके कारण भारत को, उचित रूप से ही, संसार का 'संक्षिप्त प्रतिरूप' कहा जाता है।

(अ) प्राकृतिक-भौगोलिक—भारत में प्राकृतिक भूगोल की वे अनेक स्थितियाँ पाई जाती हैं, जो अन्य देशों में बँटी हुई मिलती हैं। अक्षांश और दशांश के विपुल विस्तार में भारत में तीनों प्रकार की जलवायु मिल जाती है: शीत कटिबन्ध या ध्रुवों जैसी हिमालय के १५,००० फुट से अधिक ऊँचे प्रदेशों में तथा सम-शीतोष्ण, एवं उष्ण कटिबन्ध-जैसी जलवायु नीचे मैदानों से समुद्रतट तक। जलवर्षण की दृष्टि से भी भारत में बहुत विविधता है, जैसे चिरापूँजी स्थान पर संसार की सबसे अधिक ४८० इञ्च वार्षिक वृष्टि एवं सिन्ध और राजपूताना के कुछ भागों में तीन इञ्च से भी कम। जलवायु के इन विपुल भेदों के कारण भूमि की उपज के पदार्थों में भी बड़े भेद हैं। हूकर का कथन है कि भारत के वृक्ष और वन-

---

१. **इस अध्याय का अधिकांश भाग और दृष्टिकोण भारत पर अँग्रेज़ी शासन के दिनों की विचार-धारा का सूचक है। १५ अगस्त १९४७ के बाद उस स्थिति में बहुत कुछ हेर-फेर हो गया है।**

—अनुवादक

स्पति यदि सारे संसार में नहीं तो पूर्वी गोलार्ध में इतने ही बड़े किसी भी अन्य देश से अधिक विभिन्न हैं। ब्लाण्डफोर्ड के अनुसार भारत में वृक्ष-वनस्पतियों की विभिन्न जातियाँ यूरोप से कहीं अधिक हैं, यद्यपि यूरोप भारत से क्षेत्रफल में दुगुना है। जैसा कि लिली ने कहा है, सचाई यह है कि भारतवर्ष की उपज में वे सब वस्तुएँ शामिल हैं जो मनुष्य को अपने उपयोग के लिए चाहिएँ। इस प्रकार प्रकृति ने ही भारत को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर और स्वतन्त्र होने की अद्भुत योग्यता प्रदान की है, केवल मनुष्य को उसे सिद्ध करने की आवश्यकता है।

(आ) सामाजिक : जन, भाषा, धर्म—मानव-समाज की पञ्चमांश भारत की महती जनसंख्या के अन्तर्गत सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन की भिन्नता के अधिक-से-अधिक भेद हैं। यहाँ मानव-जाति के नृवंश-तत्त्व-सम्बन्धी तीन मुख्य भेद पाए जाते हैं—आर्य (काकेशिया के) या श्वेतवर्णी जिसके गोरा और साँवला दो भेद हैं, मंगोल, किरात या पीत-वर्णी और हब्शी (इथियोपिया), या कृष्णवर्णी (जो अण्डमान द्वीप में रहते हैं)। इन मोटे भेदों के अन्तर्गत नृवंश की दृष्टि से निम्नलिखित शारीरिक विशेषताओं वाले उपभेद हैं, जिनमें से अधिकांश का सुझाव श्री हर्बर्ट रिज़्ले ने १६०१ की भारतीय जन-गणना रिपोर्ट में दिया था।

(१) प्राक्-द्रविड़ आदिवासी मानव-जाति, जिसका नाटा कद, चौड़ी-चपटी नाक, और वे अन्य विशेषताएँ होती हैं, जिनका ऊपर वर्णन आ चुका है और जो भारत की विभिन्न वनचर जातियों में पाई जाती हैं।

(२) द्रविड़-जाति, जिसका कद नाटा, रंग श्याम, घने केश, लम्बा सिर और चौड़ी नाक होती है, उत्तर प्रदेश के दक्षिण और ७६° पूर्वी दशांश के पूर्व के समस्त देश में फैली हुई है।

(३) आर्य-जाति, जो काश्मीर, पंजाब और राजपूताने में, मिलती है। इनका शरीर प्रान्शु (लम्बा), रंग गोरा, बाल घने, सिर लम्बा और नाक नुकीली उठी हुई होती है।

(४) तुर्की-ईरानी जाति, जो उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान और सिन्ध के पश्चिमी इलाके में पाई जाती है। इसकी ऊँचाई औसत से कुछ अधिक, रंग गोरा, कपाल चौड़ा और नाक अधिक लम्बी और नुकीली होती है। "सिन्धु-नदी, जैसे ईरान और भारत के बीच की राजनीतिक सीमा है वैसे ही तुर्की-ईरानी और भारतीय आर्य इन दो मानव-जातियों के बीच की भी सीमा है।" (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृष्ठ ४४)।

(५) शक-द्रविड़ मानव-जाति, जो सिन्धु-नद के पूर्व की ओर सिन्ध-नामक

प्रान्त में गुजरात और पश्चिमी भारत में पाई जाती है और तुर्की-ईरानी जाति से जिसका भेद छोटे कद, अधिक लम्बे सिर, अपेक्षाकृत छोटी नाक, जैसी विशेषताओं के कारण है। इस नाम से तो ऐसा इङ्गित होता है कि जिन शकों ने पश्चिमी भारत में लगभग १२० ई० से ३८० ई० तक राज्य किया उनके कारण यह विदेशी पृथु-कपाल जातीय तत्त्व अपने यहाँ आ गया। किन्तु शक लोग, जैसा कि इतिहास बताता है, भारत के जातीय तत्त्व पर कुछ प्रभाव डाल सके होंगे, क्योंकि संस्कृति पर प्रभाव डालना तो दूर वे स्वयं ही क्रमशः हिन्दू बन गए। यह विदेशी जातीय तत्त्व पश्चिमी एशिया और ईरान में रहने वाले उस पृथु-कपाल पर्वतीय जन (अल्पाईन रेस) से आया होगा जो द्रविड़ों की भाँति पश्चिमी भारत में उस समय से बहुत पहले आये थे जब कि यातायात का मार्ग बीच में मरुभूमि पड़ जाने से रुक गया।

(६) आर्य-द्रविड़, या हिन्दुस्तानी जाति जो पूर्वी पंजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार में पाई जाती है। इनका सिर लम्बा, रंग गेहुँआ से लेकर साँवला तक और नाक कभी औसतन नुकीली और कभी चौड़ी, और कद औसत से कुछ कम ५ फुट तीन इन्च से ५ फुट ५ इंच के बीच में होता है। भारतीय आर्य और उनके द्वारा जीते गए द्रविड़ों के मिश्रण से यह जाति-तत्त्व बना। सरहिन्द के दशांश के समीप हम इस सूरत-शक्ल की जाति को सबसे पहले पाते हैं। ऋग्वेद से भी ज्ञात होता है कि उसके समय में आर्यों का सन्निवेश सरहिन्द या सरस्वती-नदी से आगे न बढ़ा था। ऋग्वेद का सम्बन्ध सप्त-सिन्धु देश से है। ब्राह्मणों और उपनिषदों के युग के साहित्य का सम्बन्ध कुछ और पूर्व में गंगा-जमुना के बीच मथुरा तक के प्रदेश से था, जिसकी संज्ञा ब्रह्म-देश थी, जिसमें कुरुक्षेत्र भी शामिल था, जहाँ कितनी ही बार महाभारत के युग से पानीपत के युद्ध तक भारत के भाग्य का निर्णय हुआ। साहित्य की साक्षी नृविद्या के उस प्रमाण का समर्थन करती है जिसका सम्बन्ध दो प्रकार की मानव-जातियों के बीच की विभाजक रेखा से है, जो रेखा इतिहास के दो विभिन्न युगों और परिवर्तनों के विभाग को सूचित करती है। अर्थात् एक ओर भारतीय आर्यों का जन या कबीलों की टुकड़ियों के रूप में आकर बसना और उसके बाद उन्हीं भारतीय आर्यों का सरस्वती के इस पार अपने उपनिवेश स्थापित करना, जो कार्य बहुत धीरे-धीरे विजय [1] और मानवीय जातियों

१. ऋग्वेद में केवल एक बार (७।१८।१९) यमुना का उल्लेख है जिसमें उसके किनारे पर हुए किसी युद्ध के प्रसंग का वर्णन है। उत्तरी यमुना और गंगा के बीच का भाग बाद में विजय के फलस्वरूप आर्यों के अधिकार में आया जैसा कि 'शतपथ ब्राह्मण' (१३।५।४।११-१४) में कहा गया

एवं संस्कृतियों के आपस में घोल-मेल से हुआ होगा।

(७) मंगोल या किरात जाति। यह बर्मा, आसाम और हिमालय के प्रदेश, जिसमें भूटान और नेपाल शामिल हैं, एवं उत्तर प्रदेश, पंजाब और काश्मीर के सीमान्त प्रदेशों में बसी हुई है। इस जाति का सिर चौड़ा, रंग गहरा पीला, चेहरे पर बाल कम, कद नाटा, चेहरा चपटा और पलकें तिरछी होती हैं। चीन और तिब्बत या भोट. देश की तरफ से आने वाली मंगोल जाति की धारा ने भारतीय जनसंख्या में इस सूरत-शक्ल के लोगों को जन्म दिया।

(८) बंगाली जाति। यह बंगाल और उड़ीसा में बसती है। चौड़ा कपाल, रंग साँवला, बाल घने, कद मँझला और इनकी नाक भी कुछ बीच की ऊँचाई की तथा कुछ चौड़ापन लिये होती है। रिज़ले ने, इस विचार से कि यह जाति द्राविड़ और मंगोल अंशों के मिलने से बनी है, इसे मंगोल-द्राविड़ नाम दिया। बंगाल और बिहार के बीच की विभाजक रेखा जिस प्रकार राजनीतिक है वैसे ही नृवंश-तत्त्व पर भी आश्रित है और साहित्य में भी उसकी झलक मिलती है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद में मगध और अंग (भागलपुर-मुंगेर) देश के लोगों को आर्य-क्षेत्र से बाहर कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक कथा है, जो सूचित करती है कि ब्राह्मणों के यज्ञ आदिक पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ते हुए विदेह या तिरहुत तक फैले।

नृवंश पर आश्रित नसल-सम्बन्धी विभिन्नता अपने साथ अनेक प्रकार की भाषाओं के भेदों को भी लिये हुए है। १९३१ की जन-गणना रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रयुक्त बोलियाँ २२५ हैं, जो मानवीय भाषा के चार बड़े विभागों में बाँटी जा सकती हैं। अर्थात् मुन्डा-शबर, तिब्बती चीनी, द्राविड़ और भारोपीय (संस्कृत से निकली भाषाएँ)। द्राविड़ परिवार की भाषाएँ तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम के रूप में दक्षिण में फैली हैं जहाँ प्रत्येक का महान् साहित्य है। उनके प्रसार की सीमा-रेखा के उत्तर में भारतीय-आर्य भाषा का साम्राज्य है। जिसके सामने कितनी ही बोलियाँ, जो अभी तक साहित्य के द्वारा मजबूत और स्थिर नहीं बन सकी हैं, लुप्त होती जाती हैं। भारतीय-आर्य भाषाओं का विस्तार-क्षेत्र वही है जिसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण' (३।२।३।१५) के अनुसार कुरु-पांचाल की वाक् उत्तरा अर्थात् श्रेष्ठ थी। यहाँ वाक् से तात्पर्य भारतीय आर्यों की बोली से ही है। यहीं से यह भाषा अन्य दिशाओं में फैली। कालान्तर में मनु के अनुसार भारतीय-आर्य संस्कृति का क्षेत्र आर्यावर्त कहा गया

है। यह विजय दौष्यन्ति भरत ने. अपने युद्धों की सफल समाप्ति पर यमुना और गंगा के किनारों पर यज्ञ-महोत्सवों के रूप में मनाई थी।

है, अर्थात् हिमालय और विन्ध्याचल, एवं पूर्व और पश्चिम के दो समुद्रों का प्रदेश। इसके अन्तर्गत कुरु, पांचाल, मत्स्य और शूरसेन इन चार जनपदों का समुदाय—अथवा ब्रह्मर्षि देश—उस संस्कृति का अगुआ था। यह उसके सर्वोत्तम ज्ञानियों का केन्द्र था (२।२२)। उसी प्रकार से हम अर्वाचीन समय में भी पाते हैं। एक तो मध्यदेशीय भाषाओं का केन्द्रीय क्षेत्र है, जिसकी प्रतिनिधि बोली पश्चिमी बोली है और जिसके साथ बोलियों का एक भीतरी मण्डल चारों ओर घिरा हुआ है, जैसे पश्चिम की ओर पंजाबी, राजस्थानी और गुजराती, उत्तर में पहाड़ी और पूर्व में पूर्वी हिन्दी। उसी प्रकार का दूसरा बाहरी मण्डल भी है जिसमें पश्चिम की ओर काश्मीरी, लँहदा, सिन्धी और कच्छी बोलियाँ, दक्षिण-पश्चिम में मराठी और पूर्व में बिहारी, बंगाली, आसामी और उड़िया बोलियाँ हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारतीय-आर्य संस्कृति ब्रह्मदेश से शुरू होकर जहाँ कि मध्यदेशीय भाषाएँ बोली जाती हैं, गंगा-यमुना की अन्तरवेदी में फैलती हुई कोसल से विदेह और वंग तक व्याप्त हो गई। इस विस्तार के ही अन्तर्गत ऊपर लिखी हुई भीतरी और बाहरी मण्डल की भाषाओं का क्षेत्र भी आ जाता है।

ब्रह्म-देश एवं सप्त-सिन्धु प्रदेश में प्राचीनतम आर्य-आवासों के बीच में जो भाषा-सम्बन्धी तादात्म्य था उसमें छठी शती ई० पू० के लगभग हरवामनि वंशीय ईरानियों के बलख (प्राचीन बाल्हीक) देश के अपने अड्डे से भारतवर्ष में घुस आने के कारण कुछ गड़बड़ी उत्पन्न हो गई। ईरानी और भारतीय आर्यों के सम्पर्क का फल यह हुआ कि मिली-जुली बोलियों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया, जिन्हें पिशाच भाषा कहा जाता है, जिनमें अभी तक बहुत से पुराने वैदिक शब्द पाए जाते हैं और जो काबुल और स्वात (ऋग्वेद के कुभा और सुवस्तु) नदियों के क्षेत्र में बोली जाती हैं। पिशाच भाषाओं के और भारतीय-आर्य भाषाओं के बाहरी मण्डल के पश्चिम में ईरानी भाषा की बोलियाँ शुरू हो जाती हैं, जैसे पश्तो और बिलोच।[1]

धर्म के क्षेत्र में भी भारत में सबसे अधिक विभिन्नता है। यहाँ सभी विश्व-धर्म पाए जाते हैं। अकेले हिन्दू धर्म के अनुयायी २६ करोड़ हैं जो भारतीय जन-संख्या के दो तिहाई हैं और संसार की जन-संख्या का आठवाँ भाग हैं। इतने करोड़ों आदमियों के अनुकूल यह धर्म अपने सिद्धान्तों में अत्यन्त सहिष्णु और उदारता में विश्वजनीन होना ही चाहिए। हिन्दू धर्म समन्वयात्मक एवं सर्वग्राही रूप से व्यापक है; उसका दर्शन-शास्त्र विश्वजनीन है, उसका कोई

१. देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, अध्याय २, जहाँ से इस अध्याय की बहुत-सी यथेच्छ सामग्री ली गई है।

परिमित या सीमाबद्ध लक्षण या व्याख्या भी नहीं है। वह अनेक बातों में अरूढ़ है और उसमें अपने-आपको हर नई स्थिति के अनुसार ढालने की क्षमता और लोच है; उसके गाथा-शास्त्र और पुराणों की कथाएँ बहुरूपिणी हैं। उसका कर्म-काण्ड और आदेशात्मक विधियाँ भी वैसी ही बहुमुखी और यथाकाम संग्रथित होने वाली हैं। इन कारणों से हिन्दू-धर्म अपरिमित मनुष्यों का सर्वसामान्य धर्म बन गया है जो जाति, भाषा, राजनीतिक गठन, सामाजिक परम्परा और रुचियों में एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इस्लाम के मानने वालों की संख्या भारत में ७ करोड़ ८० लाख है, जो थोड़े-अधिक सब प्रान्तों में फैले हैं किन्तु सीमा प्रान्त, सिन्ध, पंजाब और बंगाल में जिनका बहुमत है। इसके अतिरिक्त १ करोड़ २० लाख बौद्ध, ६० लाख ईसाई, ४० लाख सिक्ख, १२ लाख जैन और १ लाख पारसी हैं। भारत में मानवीय विकास की सभी अवस्थाओं और स्थितियों में प्रथमारम्भ से लेकर उच्चतम दशा तक के लोग पाए जाते हैं। यह देश लोक-धर्म, जन-विश्वास, रीति-रिवाज, रहन-सहन, मत-मतान्तर, भाषा-बोलियों, जातियों और समाज-संस्थाओं की दृष्टि से पूरा संग्रहालय कहा जा सकता है। पर यह मुर्दा चीजों का और ईंट-पत्थरों का 'अजायबघर' नहीं, बल्कि प्राणवान् मानव-जाति और अध्यात्म विचारों का, जो अपने-अपने ढंग से विकसित हो रहे हैं, महान् निधि है।

एकता—उसके महाद्वीपीय विस्तार और विभिन्नता के कारण एक राष्ट्रीय-इकाई के रूप में भारत की स्थिति सहज ही हमारे मन से ओझल हो जाती है। इस देश का समग्र रूप एक-साथ इकाई के रूप में हमारे ध्यान में नहीं आता। उसके एक-एक खण्ड या भाग को ही हम समझ पाते हैं। यह ठीक उसी तरह है जैसे एक पुरानी कहानी के अनुसार कुछ अंधे हाथी के एक-एक अंग को अलग-अलग टोहते हुए उसे ही पूरा शरीर समझ लेते हैं। अथवा हमें उपनिषद् की उस कहानी का ध्यान आता है जिसमें मनुष्य की इन्द्रियाँ अपने-अपने बड़प्पन के लिए झगड़ती हैं और उस प्राण को भूल जाती हैं जिसके द्वारा पूरा शरीर चलता है और उनमें से हरेक जीवित रहती है। वस्तुतः अनेक में एक को, समुदाय में व्यक्ति को, मिश्रित वस्तुओं में शुद्ध को पहचानना कठिन काम है; विभिन्नता होना इस बात का प्रमाण नहीं कि वहाँ एकता का अभाव है, विभिन्नता तो जीवनी शक्ति, सम्पन्नता और बलिष्ठता का लक्षण है।

भारत की भौगोलिक एकता मानचित्र में देखने से तुरन्त ही प्रत्यक्ष होती है। उसमें साफ यह प्रकट होता है कि किस प्रकार यह देश संसार के अन्य देशों से ऐसी सीमाओं के द्वारा अलग है जो अलंध्य हैं और जो यूरोप के देशों की उन

विवादग्रस्त कृत्रिम सीमाओं की भाँति नहीं जिन्हें मनुष्य ने मान लिया है। फिर भी प्रश्न यह है कि कहाँ तक भारत की इस भौगोलिक एकता का यहाँ के लोगों ने अनुभव किया अथवा वह देश के इतिहास में आई ? प्रकृति के वरदान निरर्थक हैं यदि उन्हें मनुष्य के हितार्थ काम में न लाया जाय और मनुष्य को उनकी खोज करने, उन पर अधिकार करने और उनका उपयोग करने की सूझ-बूझ न हो। राजनीतिक जीवन और सभ्यता के क्षेत्र में किसी जाति के उन्नति करने की पहली शर्त यह है कि उसके पास अपनी निश्चित और सुव्यक्त भूमि हो जिसे वह अपनी कह सके और अपनी मातृभूमि बना सके। जिस जाति के पास अपनी भूमि नहीं है और जो अस्थायी एवं अस्थिर परिस्थितियों में जीवन बिताती है, जहाँ किसी वस्तु का ठिकाना नहीं और हरेक वस्तु अनिश्चित है, वह जाति संस्कृति और सभ्यता के विकास की अनुकूल परिस्थितियों से वंचित रहती है। यहूदियों के राजनीतिक विकास में एक बड़ी बाधा यह रही है, कि वे अपने लिए मातृभूमि का निर्माण करने में कभी संगठित नहीं हो सके। राष्ट्र के लिए देश ऐसे ही है जैसे मनुष्य के लिए शरीर। वह उसके आत्म-विकास के लिए आवश्यक है। राष्ट्रीयता की उन्नति के लिए भाषा; धर्म, शासन, इतिहास, परम्परा, रहन-सहन और रीति-रिवाजों की एकता आवश्यक है, पर ये सब बातें गौण हैं। इनकी जड़ें समान देश में बिताए जाने वाले समान जातीय जीवन पर निर्भर हैं।

भारतीयों ने संस्कृति और सभ्यता में जो पहले ही उन्नति की, उसका कारण यह था कि वे आरम्भ में ही भारत देश को अपनी मातृभूमि बना सके थे। समस्त देश के लिए उन्होंने 'भारतवर्ष' यह नाम दिया। पुराणों की परिभाषा के अनुसार भारतवर्ष "वह देश है जो हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर में है, जहाँ महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष (गोंडवाना के पहाड़), विन्ध्य और पारियात्र (विन्ध्य का पश्चिमी भाग अरावली तक), ये कुल सात पर्वत हैं; जहाँ भारत के वंशज रहते हैं; जिसके पूर्व में किरात और पश्चिम में यवन बसते हैं। और जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के लोग हैं।" [देखिए, विल्सन कृत विष्णु पुराण, २/१२७-६] देश के लिए इण्डिया नाम स्वदेशी नहीं, विदेशी है। पुराने समय में विदेशी लोग भारत को उसके उत्तर-पश्चिम में बहने वाले महानद सिन्धु के नाम से पुकारते थे, जिसे ईरानियों ने हिन्दु और यूनानियों ने हकार का लोप करके 'इन्डोस' कहा। लेकिन भारतवर्ष नाम इण्डिया की तरह केवल भौगोलिक संज्ञा नहीं है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है और इसका अर्थ है, 'भरत जन' का देश, अथवा भारतीय-आर्य संस्कृति का क्षेत्र, जिसके मुख्य प्रचारक भरत लोग थे। हिन्दुओं की एक देशव्यापी स्तुति में मातृ-भूमि के स्वरूप की कल्पना

और पूजा गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी इन सात नदियों के देश के रूप में की गई है, जो इस समस्त भूखण्ड में फैली हैं। एक दूसरी स्तुति में मातृ-भूमि का स्वरूप बताते हुए उसे अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काँची, अवन्तिका और द्वारावती इन सात पुरियों का देश कहा गया है, जो भारत के प्रमुख भागों में है। हिन्दुओं की तीर्थयात्रा इन प्रार्थनाओं की भावना को पुष्ट करती है। इसके अनुसार प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन-काल में अपने धर्म के इन पवित्र स्थानों का दर्शन करे। वैष्णव, शैव और शाक्त हिन्दू-धर्म के इन तीनों सम्प्रदायों में अपने-अपने तीर्थ-स्थानों की सूचियाँ हैं, जो भारतवर्ष-भर में फैले हुए हैं, और किसी एक प्रान्त तक सीमित नहीं हैं। इस प्रकार हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदाय अपने अनुयायियों को इस बात का आदेश देते हैं कि वे देश के विभिन्न और दूरतम भागों में तीर्थयात्रा के लिए जायँ। इस प्रकार अपनी समान मातृभूमि के प्रति उनके हृदयों में जीवित जागृत प्रेम उत्पन्न किया जाता था। इसी विचार से शंकराचार्य ने अपने चार मठ देश के चार कोनों में बनाए, जैसे ज्योतिमठ उत्तर में (हिमालय पर बद्री केदार के पास), शारदा मठ पश्चिम में द्वारिका में, गोवर्द्धन मठ पूर्व में पुरी में और शृङ्गेरी मठ दक्षिण के मैसूर में। इस प्रकार हिन्दू संस्कृति साम्प्रदायिक भक्ति के द्वारा राष्ट्रीयता की सहायक है। कुछ धार्मिक ग्रन्थों में जैसे 'भागवतपुराण' और 'मनुस्मृति' में राष्ट्रीयता उत्पन्न करने वाले वचन पाए जाते हैं, जिनमें भारतवर्ष को देवों के द्वारा निर्मित देश कहा गया है और यह भी संकेत है कि देवता भी इस भूमि को स्वर्ग मानकर यहाँ जन्म लेने की इच्छा करते हैं। और इन सबके ऊपर महत्त्वशालिनी यह उक्ति है कि जननी और जन्मभूमि दोनों स्वर्ग से भी बढ़कर हैं।

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"

इन सब प्रार्थनाओं और श्लोकों से सूचित होता है कि हिन्दुओं के अनुसार देश-प्रेम भी धर्म का अंग है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् का कथन है,[१] "हिन्दू के लिए भारतवर्ष न केवल एक सत्ता से शासित होने वाली राजनीतिक इकाई है—चाहे वह सत्ता ईसाई, मुसलमानी या हिन्दू कोई भी हो—बल्कि वह उनकी अध्यात्म संस्कृति का मूर्त रूप अथवा मन्दिर भी है अथवा मातृ देवी है।...... उसके लिए भारतवर्ष उसकी संस्कृति का मूर्तिमान रूप है, जिसमें उसने अपनी आत्मा को उंडेल दिया है। उसके विचारों में उसकी आत्मा का महान् रूप ही

१. **इंग्लैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री जे० रैम्से मैकडानल्ड द्वारा लिखित भूमिका, जो उन्होंने लेखक की पुस्तक 'दि फण्डामैण्टल यूनिटी ऑफ इण्डिया (लौंगमेन्स लन्दन) के लिए लिखी।**

उसकी मातृभूमि है।"

किन्तु धर्म के अतिरिक्त प्राचीन हिन्दुओं को अपने राजनीतिक जीवन से भी मातृभूमि के प्रति अपनी भावनाओं को पुष्ट करने में सहायता मिली। जब देश एक शासन-सूत्र के अन्तर्गत होता है तो उसकी एकता सहज ही समझ में आती है— प्राचीन हिन्दू बहुत पुराने समय से ही देश में सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता के आदर्श और अस्तित्व को जानते थे। उसके द्योतक कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द ये हैं— एकराट्, सम्राट्, राजाधिराज, सार्वभौम; और कुछ वैदिक यज्ञ हैं जैसे राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध। जो राजा दिग्विजय के द्वारा अपने-आपको अन्य राजाओं का अधिपति बना लेता था उसे इन यज्ञों के करने का अधिकार था। कुछ वैदिक ग्रन्थों में और बाद के महाभारत एवं पुराणों में भी ऐसे सार्वभौम राजाओं या सम्राटों की सूचियाँ पाई जाती हैं। इन पुराकाल के राजाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक युग में भी देश में कितने ही सम्राट् हुए हैं, जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त हर्ष, मिहिर भोज, और मुस्लिम युग में अकबर और औरंगजेब। कुछेक ने अपने सर्वोपरि आधिपत्य की घोषणा के लिए अश्वमेध यज्ञ भी किया था जैसे पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त प्रथम, आदित्य सेन और पुलकेशिन प्रथम। इस प्रकार सार्वभौम सम्राट् के पद का भारतवर्ष में लम्बा इतिहास है। धार्मिक ग्रन्थों में क्षत्रिय राजाओं के लिए उचित जिन आदर्शों का उल्लेख है, सार्वभौम सम्राट् की कल्पना उसके सर्वथा अनुरूप थी, जिसके अनुसार वे अपने ऐश्वर्य का विस्तार अपनी मातृभूमि की चतुरन्त सीमाओं तक कर सकते थे।

देश की एकता का द्योतन उस विशिष्ट संस्कृति के द्वारा भी होता है जिसकी छाप सारे देश पर लगी हुई है। चौबीस करोड़ जनसंख्या वाले हिन्दुओं ने, जो इस देश के प्रधान 'जन' हैं, उस संस्कृति का निर्माण किया है। फ़ारस देश के लोग पहले भी भारत को हिन्दुओं का देश या 'हिन्दू-स्थान' कहते थे। "इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष और हिन्दू-धर्म का परस्पर शरीर और आत्मा की तरह घनिष्ठ सम्बन्ध है।" [जे० रैम्से मैकडानल्ड, ऊपर उद्धृत पुस्तक से।] हिन्दू-धर्म ने समस्त भारतवर्ष को दृढ़ और स्थायी सांस्कृतिक एकता प्रदान की है जिसने युग-युगान्तर में राजनीतिक उथल-पुथल के धक्कों को सहा है। वह सांस्कृतिक एकता हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत विशेष प्रकार के जातीय स्वराज्य की छत्र-छाया में सुरक्षित रही है एवं देशी और विदेशी शासन-यन्त्रों से उसका सम्पर्क कम ही हुआ है। भारतवर्ष मुख्यतया गाँवों का देश है। ये गाँव स्वराज्यभोगी प्रजातन्त्र के रूप में जीवित रहते थे। इनमें अपनी संस्कृति, की रक्षा के लिए स्थानीय संस्थाओं का और संगठनों का एक जाल बिछा हुआ था, जिस पर राजधानी या

केन्द्रीय शासन में होने वाली उथल-पुथल का कोई असर न पड़ता था। 'हिन्दू-धर्म' इस नाम से प्रसिद्ध भारत की आत्म-संस्कृति की प्रधान विशेषताएँ क्या हैं? हिन्दू धर्म की जो निजी परिभाषा है उसी में इनका संकेत भी मिलता है, अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म, वह धर्म जो वर्ण और आश्रम-संज्ञक दो प्रकार के विभागों पर आश्रित है, एवं हिन्दू धर्म का सबसे विशिष्ट और उसमें एकता लाने वाला गुण है। मूलतः, जैसा कि वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार अपने में पूर्ण सामाजिक वर्गों या जातियों में समाज का बँटवारा करने से वर्ण-संस्था का जन्म हुआ। समय पाकर ये जातियाँ अनेक उप-जातियों में बँट गईं। इस समय भारत-भर में हिन्दू सैकड़ों जातियों और उप-जातियों में बँटे हुए हैं। जाति-पाँति के भेद के विषय में, जो भारतीय सामाजिक जीवन की बड़ी विशेषता है, बहुत भ्रम भी पाया जाता है। इसका सम्बन्ध मुख्यतया व्यक्ति के निजी, घरेलू और धार्मिक जीवन से है, सार्वजनिक जीवन से नहीं। इसमें दो भिन्न-भिन्न जातियों के परस्पर रोटी-बेटी के सम्बन्ध का निषेध है अर्थात् सन्तति-शास्त्र के आधार पर दो भिन्न जातियों के व्यक्ति आपस में विवाह-सम्बन्ध नहीं कर सकते और न एक ही थाली में बैठकर भोजन कर सकते हैं अथवा अशुद्ध हाथों से छुआ हुआ भोजन कर सकते हैं। भोजन व्यक्ति का निजी कर्म है। यह उतना ही पवित्र है जितना ईश्वर को सम्बोधित करके किया हुआ संध्या-कर्म। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जाति-पाँति का भेद हिन्दू धर्म का एक अंग मात्र है। उसका दूसरा अंग व्यक्ति के जीवन में चार आश्रमों में विभक्त है, जिनकी पूर्ति स्वाभाविक रीति से होनी चाहिए। ये आश्रम इस प्रकार हैं (१) ब्रह्मचारी या विद्या-अध्ययन करने वाला छात्र (२) गृहस्थ या घर-गृहस्थी सँभालने वाला विवाहित व्यक्ति, (३) वानप्रस्थ या वन में रहने वाला भिक्षु, (४) और संन्यासी अथवा वह तपस्वी साधु जो ध्यान या ईश्वर-चिन्तन में लीन रहता है। जीवन का तीसरा आश्रम पचास वर्ष की आयु में आरम्भ होता है। इस काल में गृहस्थ के लिए उचित है कि वह सांसारिक और घरेलू जीवन से अपने को अलग कर ले और विश्वजनीन उच्च जीवन की साधना में तथा दूसरों की सेवा में अपने-आपको लगा दे। जैसा पहले कहा जा चुका है, अपने बाह्य सामाजिक रूप में हिन्दू-धर्म के दो अंग हैं—एक वर्ण-व्यवस्था और दूसरी आश्रम-व्यवस्था। दुर्भाग्य से आश्रमों की अपेक्षा जाति-पाँति का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। जाति जन्म के आधार पर व्यक्तियों को एक-दूसरे से अलग करती है, किन्तु आश्रम की प्रथा लोगों को ऐक्य की ओर खींचती है और सभी जातियों के लोगों को एक-एक आश्रम से सम्बन्धित विशेष प्रकार के नियमों में बाँधती है, जिससे वे निश्चित मार्ग से स्वाभाविक

अवस्थाओं को पार करते हुए उन्नति की ओर बढ़ सकें।

हिन्दू-संस्कृति का मुख्य वाहन संस्कृत भाषा है। जनता को एक सूत्र में बाँधने के लिए संस्कृत का जो प्रभाव पड़ा है उसे पूरी तरह कह सकना कठिन है। मौनियर विलियम्स ने इस विषय में ठीक कहा है : (Hinduism) पृ० १३—"यद्यपि भारत में पाँच सौ से अधिक बोलियाँ हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है और धार्मिक साहित्य भी केवल एक है, जिसे हिन्दू धर्म के सभी अनुयायी, चाहे वे जाति-पाँति, बोली, सामाजिक स्थिति और मत की दृष्टि से कितने ही भिन्न हों, मानते हैं और श्रद्धा से पूजते हैं। वह भाषा संस्कृत है और वह साहित्य संस्कृत-साहित्य है। वही- वेद या विश्वजनीन ज्ञान का एकमात्र कोश है। हिन्दू धर्म, दर्शन, व्यवहारशास्त्र और गाथा-शास्त्र का एकमात्र साधन वही है; केवल वही ऐसा दर्पण है जिसमें हिन्दुओं के सभी मत-मतान्तर, विचार, रीति-रिवाज और प्रथाएँ ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित हुई हैं, और (यदि एक चौथे रूपक का हम प्रयोग कर सकें तो) वही ऐसी खान है जहाँ से देशी भाषाओं को उन्नत करने की सामग्री मिल सकती है अथवा महत्त्वपूर्ण धार्मिक और वैज्ञानिक विचारों के प्रकाशन की सामग्री प्राप्त की जा सकती है।"

अपनी निजी विशिष्टता रखने वाली इस भारतीय संस्कृति ने कालान्तर में इस प्रकार सारे देश को एकता के सूत्र में बाँध दिया कि देश और संस्कृति अभिन्न समझी जाने लगीं और एक दूसरे की समानार्थक हो गईं। देश संस्कृति बन गया और संस्कृति देश बन गई। देश भौगोलिक रूप से अपर अध्यात्म जगत् का स्वरूप बन गया। यह भारतीय आर्य-संस्कृति जब ऋग्वेद के समय से यहाँ आरम्भ हुई तो पीछे के युगों में उत्तरोत्तर विस्तार को प्राप्त होती हुई सप्तसिन्धु, ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त्त, मध्य देश, आर्यावर्त्त, जम्बू द्वीप अथवा भारतवर्ष नामक क्षेत्रों में फैल गई। यहाँ तक कि अपनी प्रबल महाप्राणता के कारण वह भारत की सीमाओं के उस पार विदेशों में भी पहुँच गई और उसने अपने लिए समुद्र पार के देशों में 'बृहत्तर भारत' का निर्माण कर लिया। भारतीय विचार और संस्थाएँ आज तक स्याम, कम्बोडिया (कम्बोज देश), जावा (यव-द्वीप), सुमात्रा (सुवर्ण-द्वीप), बाली (बलि-द्वीप), और बोर्नियो (वारूण-द्वीप) के साहित्य, मन्दिरों और स्तूपों की कला-कृतियों, लोकवार्ताओं, अनुश्रुतियों, रीतिरिवाजों और रहन-सहन में पाई जाती हैं। यह सब उपनिवेशों में जाने वाले भारतीयों के श्रम का फल है। इनमें से कुछ देशों ने तो अपना धर्म भी भारत से मिला लिया है। जैसे तिब्बत, नेपाल और चीन, जहाँ महायान बौद्ध धर्म का प्रचार है, एवं बर्मा, सिंहल, स्याम और कम्बोज देश जहाँ हीनयान बौद्धधर्म

का प्रचार है। कर्मण्य और प्रगतिशील राष्ट्रीयता के कारण ही देशान्तरों में उपनिवेशों का जन्म होता है, जिसके पीछे अपनी मातृभूमि और निजी संस्कृति की भावना प्रेरणा देती रहती है।

इतिहास पर प्रभाव—भारत की इस मौलिक एकता के होते हुए भी, देश की विशालता, भौगोलिक परिस्थितियों की अनेकरूपता और सामाजिक अवस्थाओं की विविधता ने देश के इतिहास और राजनीतिक विकास पर स्वाभाविक प्रभाव डाला। हमेशा ही सारे देश को इकाई के रूप में संगठित करने और एक केन्द्र से एक सम्राट् या एक शासन-तन्त्र से प्रशासित करने में कठिनाई का अनुभव किया जाता रहा है। परिणाम यह हुआ कि भारतीय इतिहास में उस प्रकार की एक इकाई या एकसूत्रित उन्नति, जैसी अंग्रेजी इतिहास या फ्रांस के इतिहास में मिलती है, बहुत कम सम्भव हुई। प्रायः भारतवर्ष का इतिहास सम्पूर्ण देश के लिए एक सूत्र में ग्रथित विकास की कहानी न होकर कितने ही छोटे-छोटे गौण और विशृंखल टुकड़ों में बँट गया है। एक निर्दिष्ट धारा के अनुसार एक केन्द्र से विकसित होने के बजाय भारतीय इतिहास प्रायः विभिन्न और एक-दूसरे से स्वतन्त्र केन्द्रों से भी विकसित होता रहा है, जिसके कारण उसकी एकता पृथक् स्थानीय इतिहासों में खो जाती है, जो विभिन्न जातियों और प्रदेशों को आधार मानकर बने हैं और हर-एक ने एक-दूसरे के साथ सम्पर्क या सादृश्य के बिना अथवा विरोध में आकर अपने-अपने पृथक् ढंग से अपना विकास किया है। भारत के राजनीतिक इतिहास को कई भागों और खण्डों में टटोलना पड़ता है, जिनमें कई व्यवधान हैं और कहीं-कहीं एक-दूसरे से असम्बन्धित रूप में ऐतिहासिक पुनर्गठन के प्रयत्न हैं और कहीं-कहीं तो कुछ कड़ियाँ खोई हुई भी हैं। युग-युगान्तर में होने वाले कितने ही राजाओं और जातियों ने भारतीय इतिहास का निर्माण किया है, जैसे उत्तर में मौर्य, कुषाण, आन्ध्र, गुप्त और गुर्जर वंशों ने एवं दक्षिण में पल्लव, चालुक्य और चोल वंशों ने अथवा कालान्तर में मुसलमान, मराठे, सिक्ख और अंग्रेजों ने। ये लोग कितने ही केन्द्रों से, जो प्रायः बदलते रहते थे, राज्य करते थे, जैसे पाटलिपुत्र, पुरुषपुर, पैठण, नासिक, उज्जैन, कन्नौज, बादामी, काँची, कल्याणी और तञ्जौर, अथवा दिल्ली, पूना, लाहौर और कलकत्ता, जो भारतीय इतिहास के पृथक्-पृथक् युगों में विभिन्न राज्यों की राजधानी रहे हैं। हिन्दूकालीन भारत में केवल एक बार ऐसा देखने में आता है कि समस्त देश एक ही शासन-तन्त्र और एक ही ऐतिहासिक धारा के अन्तर्गत आ गया। यह अशोक का मौर्य-साम्राज्य था, जिसने अपना शासन समस्त देश पर एवं 'बृहत् भारत' के अंग-भूत अफगानिस्तान और बलोचिस्तान पर भी स्थापित किया और वह उन सबका सार्वभौम सम्राट् बन

गया।

परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एक केन्द्रीय शासन की स्थापना में देश की विशालता जैसे बाधक थी वैसे ही प्राचीन-युग की विशेष अवस्था भी, जिसमें यन्त्र-युग से पूर्व आवागमन की वे अनेक कठिनाइयाँ थीं जो अब कोयला, बिजली या तेल से उत्पन्न शक्ति के द्वारा हटा दी गई हैं। शासन प्रभावशाली हो और उसका प्रभुत्व सब लोग देश के बड़े भाग में और सुदूरतम प्रदेशों में भी बराबर स्वीकार करें, इसके लिए यह आवश्यक था कि स्थानीय स्व-राज्य या स्व-शासन का अधिकार प्रदान करके शासन-यन्त्र का विकेन्द्रीकरण किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सामान्य इतिहास और जीवन तो पीछे पड़ गया एवं स्थानीय जीवन और इतिहास बहुत-कुछ आगे आ गए। इस प्रकार भारतीय इतिहास परस्पर असम्बन्धित स्थानीय इतिहासों का एक संग्रह-मात्र बन गया उसमें सारे भारतवर्ष पर लागू राजनीतिक जीवन की कहानी बहुत कम मिलती है।

देश की भौगोलिक विशालता के प्रभावों की अमिट छाप भारतीय इतिहास पर पड़ी है। यद्यपि वर्तमान काल में यातायात की सुविधाओं ने देश और काल को छोटा कर दिया है फिर भी वे प्रभाव अभी तक मौजूद हैं। अब भी समस्त भारत समान शासन के अन्तर्गत नहीं है। १९५१ के पूर्व तक की स्थिति यह थी कि देश के एक-तिहाई भाग में अनेक रजवाड़ों की सत्ता थी, जो उस राजनीतिक अवस्था से उत्पन्न हुए थे, जिसमें देश के एकीभूत इतिहास की अपेक्षा छोटे-छोटे स्थानीय इतिहासों को प्रोत्साहन मिला। इस तरह के रजवाड़ों की संख्या छः सौ से कुछ अधिक थी। ब्रिटिश-भारत में यद्यपि एक शासन था फिर भी इतने बड़े देश में चुस्त और प्रभावशाली शासन-यन्त्र की स्थापना के लिए उसे कितने ही प्रान्तों में बाँटना पड़ा था, जिनमें से कुछ तो यूरोप के कई देशों के बराबर थे। अंग्रेजी राज्य और रजवाड़ों को मिलाकर भारत के शासन को एक सूत्र में ग्रथित करना उसके राजनीतिक विकास का अगला कदम था, जो अभी हाल में पूरा हुआ है।

पर यह स्मरण रखने की बात है कि प्रत्येक स्थान के अलग-अलग इतिहास के उस गड़बड़-झाले के पीछे अखिलभारतीय इतिहास की एक पृष्ठभूमि सदा से रही, जो राजनीतिक न होकर सांस्कृतिक थी। वह एकता भारतीय विचार और दर्शन के इतिहास में पिरोई हुई है, जो प्रादेशिक सीमाओं और शासन की छोटी-छोटी इकाइयों से ऊपर है। समस्त भारतवर्ष पर विचार और जीवन के एक-जैसे आन्दोलनों की छाप पड़ी है, जिससे एक-जैसे आदर्श और एक-सी संस्थाओं का यहाँ उदय और विकास हुआ, जिनके कारण भारतीय सभ्यता संसार की अन्य सभ्यताओं से अलग पहचानी जाती है और जो उस इतिहास को 'मानवजाति के

सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक विकास में एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में' प्रतिष्ठित करती हैं। [वी० ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चौथा संस्करण, पृष्ठ ५]

Sanskrit.

: ४ :

भारत में आर्य : ऋग्वेदीय सभ्यता

आर्यों के मूल के विषय में ऋग्वेद की साक्षी—भारत का इतिहास एक प्रकार से इस देश में आर्य-जाति का इतिहास है। उसका आरम्भ आर्यों के भारत में आगमन से होता है। उसका सबसे प्राचीन स्रोत 'ऋग्वेद-संहिता' है, जो न केवल भारतीय आर्यों का बल्कि समस्त आर्य-जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से न केवल भारत में आर्यों के इतिहास के प्रारम्भ पर प्रकाश पड़ता है, बल्कि अन्य देशों के आर्य-इतिहास पर भी; जिसमें उनकी भाषा, शब्दों के रूप, स्वर और छन्द, धर्म और सभ्यता की पूर्वकालीन विकास की अवस्थाएँ सम्मिलित हैं।

समान आर्य-भाषा और निवास-स्थान—भाषा-शास्त्र के विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद की भाषा व्याकरण और धातुओं की दृष्टि से ईरानी, यूनानी, लातीनी, ट्यूटनी, कैल्ट और स्लाव भाषाओं से मिलती है, जैसे वे सब एक ही मूल-भाषा से निकली हुई हों। परिवार के निकटतम सम्बन्धों एवं जीवन के मौलिक अनुभवों के सूचक शब्द इन भाषाओं में एक जैसे हैं; जैसे पिता, माता, पुत्र, पुत्री, ईश्वर, हृदय, आँसू, कुल्हाड़ी, वृक्ष, कुत्ता और गौ आदि शब्द। उदाहरण के लिए देखिए, संस्कृत मातर, लैटिन मेतर, अंग्रेजी मदर; संस्कृत सूनु, लिथवानियन सूनू, प्राचीन जर्मन की खड़ी बोली सुनु, इंग्लिश सन।

भाषा-शास्त्र की यह साक्षी महत्त्वपूर्ण आरम्भिक इतिहास की साक्षी प्रस्तुत करती है। इस प्रकार से सम्बन्धित भाषाएँ सूचित करती हैं कि उनके अर्वाचीन बोलने वालों के पूर्वज किसी एक स्थान में रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे। इन भाषाओं के बोलने वाले अपने उस मूल निवास से चलकर अलग-अलग समूहों में बँट गए। किन्तु उनके पूर्वज एक ही आर्य 'जन' के अंग थे, जिसे हम 'वीर' कह सकते हैं; क्योंकि पुरुषवाची वीर (Wiros) शब्द इस परिवार की अधिकांश भाषाओं में पाया जाता है।

प्रश्न यह है कि 'वीर' संज्ञक आर्य लोगों का मूल निवास-स्थान या देश कहाँ था। इस विषय में भारोपीय या भारत-जर्मनीय भाषाओं में प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ अनुमान ही लगाया जा सकता है। पहली बात यह है कि 'वीर' जाति किसी द्वीप में या समुद्र-तट के निकट नहीं रहती थी, क्योंकि उनकी भाषा में समुद्र के लिए शब्द नहीं है। दूसरे, वे शीतोष्ण जलवायु में रहते थे जहाँ उन्हें बाँज, बेंत और कुछ पीत दारु परिवार के वृक्षों का परिचय हुआ।[1] तीसरे, वे लोग नियत स्थान में बसे हुए थे, खानाबदोश या घुमक्कड़ न थे। वे महीनों श्रम करके अन्न उत्पन्न करते और बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता और सुअर इन जानवरों को पालते थे, किन्तु गधा, ऊँट और हाथी नहीं। घोड़ा और गाय विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के सूचक हैं। घोड़ा खुले मैदानों में चरने जाता है, जहाँ उसके बछड़े (किशोर) मादा के पीछे-पीछे घूमते रहते हैं; गाय जब चरने जाती है, अपने बछड़े को पीछे छोड़ तो देती है लेकिन उससे दूर नहीं हटती। मूल आर्य-वास-स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ पशुओं के चरने और कृषि दोनों की सुविधा हो,

१. अंग्रेजी Oak, Beech, willow and some coniferous trees अं० ओक=हिन्दी बाँज। इसलिए भारत-यूरोपीय भाषा में कई समान शब्द हैं, जिनका मूल अर्थ 'वृक्ष' था। संस्कृत और ज़ैन्द भाषा में 'द्रु' शब्द का यूनानी भाषा में 'द्रुस्' का अर्थ बाँज वृक्ष था। इन शब्दों के स्वर विभिन्न होते हुए भी मूल व्यंजन द्-र् समान थे जिनका अर्थ कभी 'वृक्ष' और कभी बाँज का पेड़ किया जाता था। बाँज यूरोप में जंगल का राजा, प्रधान वृक्ष, 'वनस्पति' समझा जाता रहा है जिस पर देवों का निवास था।

अं० विलो=हिन्दी बेंत; O. H. G. *wīla*, Lat. *vīlex*=Zeud *Vaelī*, पहलवी *wīd*, फारसी बेद *bid*.

अं० बीच beech के लिए हिन्दी-पर्याय नहीं मिला। यह मध्य और पश्चिमी यूरोप का वृक्ष है। O. H. G. *buobha*, A. S. *bôce*, Lat. fagus., Slav, *buky*, भूर्ज (अं० बर्च *birch*, लिथुआनी *bérizas*.) ऐसा वृक्ष था जो यूरोप से भारत तक पाया जाता था।

कोनिफरस वृक्ष—देवदारु, चीड़, कैल आदि की जाति के वृक्ष जिनमें पत्तियों की जगह 'सुइयां' होती हैं। कहा जाता है कि बाँज आदि पत्रल वृक्षों को हटाकर उनके स्थान पर शनैः-शनैः 'सूची' वाले वृक्षों ने दखल जमा लिया।

अर्थात् अश्व-पालन के अनुकूल लम्बे-चौड़े घास के मैदान और भेड़ों के चरने के अनुकूल घास से भरी हुई पहाड़ी उडार दोनों निकट हों।

डॉ० गाइल्स के मतानुसार (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया भाग १ अध्याय ३) वृक्ष, वनस्पति और पशु-पक्षी-सम्बन्धी ऊपर की साक्षी से (१) भारतवर्ष, (२) पामीर प्रदेश, जो आरम्भिक निवास के लिए बड़ा अनुपयुक्त है, (३) यूरोप के उत्तरी मैदान जहाँ पहले घने वन थे, (४) रूस के दक्षिणी मैदान और (५) उत्तरी ध्रुव, ये प्रदेश मूल आर्य-वास-स्थान नहीं हो सकते। उनका सुझाव है कि हंगरी, आस्ट्रिया और बोहेमिया वाला यूरोप का टुकड़ा ही वह प्रदेश था।

आर्यों का फैलना—इस मूल देश से पूर्व की ओर जो आर्य फैले (जिनसे भारतीय इतिहास का सम्बन्ध है) वे नये जंगल और गोचरों की खोज में डैन्यूब नदी के किनारे-किनारे वालेशिया तक बढ़े और आगे दक्षिण में बासफोरस और दर्रे दानियाल पर जा उतरे। उन्हें पार करके एशिया माइनर का पठार पार करने के बाद वे उफरात् और तिग्रा नदियों की अन्तरवेदी के सिरे पर जा निकले। किन्तु वहाँ अन्य बलवान जाति का राज्य होने के कारण उससे बचते हुए तब्रेज और तेहरान के रास्ते ईरान में प्रविष्ट हुए और मशद, हैरात और बलख की ओर आगे बढ़े।

ऋग्वेद और अवस्ता में साम्य—अन्तिम प्रदेश में वे आर्य बसे जो भारतीयों और ईरानियों के पूर्वज थे। इसलिए उनके धार्मिक ग्रन्थ ऋग्वेद और अवस्ता में भाषा और विचार की समता किसी भी यूनानी, लातीनी या भारतीय-जर्मन साहित्य से अधिक है। न केवल इक्के-दुक्के शब्द और वाक्यांश बल्कि पूरे-पूरे वाक्य भारतीय भाषा से ईरानी भाषा में बिना शब्दावली या वाक्य-रचना को बदले परिवर्तित किये जा सकते हैं। यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा—

१—छन्द

अवस्ता	**वैदिक भाषा**
तत् थ्वा	तत् त्वा
पेर्श एर्स	पृच्छा ऋजु
मोइ वोचा	मा वच
अहुरा	असुर
ता चीत्	ता चित्
मझ्दा	मेधिष्ठ

वश्मी	वश्मि
अन्याचा	अन्याचा
वीद्ये	विदे

२—देवता

अवस्ता	**वैदिक**
इन्द्र	इन्द्र
वायु	वायु
मिथ्र	मित्र
नाओनहइथ्य्	नासत्य
वेरेथ्रघ्न	वृत्रघ्न

इससे ज्ञात होता है कि हिन्दुओं और ईरानियों के पूर्वज औरों की अपेक्षा अधिक काल तक एक दूसरे के साथ रहे। संभवतः वे सबसे अन्त में अपने मूल वासस्थान से निकले, क्योंकि उनकी भाषा में आर्य-संस्कृति का सबसे अधिक अंश धातु, व्याकरण, शब्द, गाथाओं और उपाख्यानों के रूप में आया।

ऋग्वेद का काल—विदेशी और भारतीय प्रमाण—अब प्रश्न यह है कि इन महत्त्वपूर्ण देशान्तरों में प्रवास का सम्भावित काल कौनसा था। इस पर भारत के बाहर की एक नई सामग्री से प्रकाश पड़ता है। एशिया माइनर के बोगाज़ कुई नामक स्थान में १४०० ई० पू० के कुछ अभिलेख मिले हैं जिनमें खत्ती (Hittites) और मितानी (Mitani) जातियों में हुई सन्धि का उल्लेख है। वहाँ सन्धि की शर्तों की रक्षा के लिए साक्षी रूप में दिये हुए देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—

"इलानि मि-इत्-र अश्-शि-इल् (इलानि) उ-रु-व-न-अश्-शि-इल् (इलु) इन्-दार (इलानि) न-श-अ(त्-ति-इअ-अ) न्-न....." ये नाम ऋग्वेद में दिये हुए मित्र, वरुण, इन्द्र और दोनों नासत्य देवताओं से मिलते हैं। चूँकि ये देवता अवस्ता में भी आए हैं, कुछ विद्वानों का विचार है कि वे उस काल के अविभक्त आर्यों के देवता हैं, जब भारतीय और ईरानी एक दूसरे से अलग नहीं हुए थे। किन्तु इन अभिलेखों में नामों के जो रूप हैं वे ऋग्वेद से अधिक मिलते हैं। इस हालत में यह मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद और उसकी आर्य-संस्कृति १४०० ई० पू० से बहुत पहले भारत में जड़ जमा चुकी थी जिससे वह सुदूर एशिया माइनर की तत्कालीन संस्कृति पर अपना प्रभाव डाल सकी।

बोगाज़ कुई अभिलेखों के ही समय के कुछ प्रसिद्ध पत्र तल्ल-अल्-अमरना गाँव से मिले थे जिनमें कुछ मितानी राजाओं के नाम संस्कृत रूपों से मिलते हैं।

आर्ततम, तुष्रत्त, सुततर्न (वैदिक सुत्राण) बेबीलोनिया पर राज्य करने वाले लगभग १७४६-११८० ई० पू० कस्सी (Kassites) राजाओं के नाम संस्कृत हैं जैसे शुअृश्रस् (सूर्य), मर्यतस (वैदिक मरुतस) इत्यादि । असुर बनीपाल के (लगभग ७०० ई० पू०) पुस्तकालय में असीरिया में पूजे जाने वाले देवताओं की सूची मिली है, जिसमें अस्सर-मज़स् नाम है। जो अवस्ता के मुख्य देव अहुर मज़्द का रूपान्तर है, यद्यपि अस्सर अवस्ता के अहुर की अपेक्षा संस्कृत के असुर से अधिक मिलता है।

भारतीय साहित्य के प्रमाणों से भी आर्यों के भारत-देश में आगमन और ऋग्वेद की वैसी ही प्राचीनता ज्ञात होती है। यदि भारत में बुद्ध धर्म का उदय ६०० ई० पू० के लगभग माना जाय तो उसमें पूर्वकालीन रूप से उल्लिखित भारतीय साहित्य और संस्कृति उस युग से पहले की होनी चाहिए। संस्कृत-साहित्य के सूत्र आरण्यक उपनिषद्, ब्राह्मण, चार वैदिक संहिताएँ एवं उनसे पूर्ववर्ती मूल मन्त्र-समूह, जो पीछे ऋग्वेद-संहिता के रूप में संकलित हुआ, इन भिन्न-भिन्न शैलियों के विकास के लिए हमें पर्याप्त समय मानना पड़ेगा। अतः उचित उपपत्ति से लगभग २५०० ई० पू० में ऋग्वेद का काल मानना होगा।

ऋग्वेद में सभ्यता का ऊँचा स्तर—स्वयं ऋग्वेद में आर्यों के इस आवागमन के विषय में एक शब्द भी नहीं है। उसमें स्थान-विशेष में बसे हुए जन, व्यवस्थित समाज और पूर्ण उन्नत सभ्यता का वर्णन है। हिन्दू अनुश्रुति का विश्वास है कि ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति के उषा-काल के स्थान पर उसके मध्याह्न काल के दर्शन होते हैं। यह संस्कृति देवी सरस्वती की उसी मूर्ति के समान है जो पूर्ण युवती के रूप में एक साथ प्रकट हुई। भारतीय विचारों के महान् वट-वृक्ष का मूल ऋग्वेद है, जिससे अनेक मत, दर्शन और धर्मों की शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं। ऋग्वेद आज तक उस गायत्री-मन्त्र का मूल स्रोत है, जिसके अक्षरशः जप में श्रद्धा रखने वाले करोड़ों हिन्दू उसके प्रत्येक स्वर, वर्ण और शब्द को पवित्र मानते हैं और उसके स्थान में मनुष्य विरचित किसी भी अनुवाद या अन्य जप को स्वीकार नहीं करते।

ऋग्वेदकालीन भारत—उसकी नदियाँ, प्राकृतिक दृश्य और जन—ऋग्वेद के आर्य विस्तृत भू-प्रदेश में बसे हुए मिलते हैं। उस क्षेत्र में उन्होंने स्वतन्त्रता से अपनी संस्कृति और विशेष प्रवृत्तियों का विकास किया। ऋग्वेदकालीन भारत की भौगोलिक सीमाएँ ऋग्वेद में आये कुछ नामों से जानी जाती हैं। पश्चिम की ओर कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सुवास्तु (स्वात) नदियाँ बताती हैं कि उस समय अफ़गानिस्तान भी भारतवर्ष का अंग था। उसके बाद पंजाब की पाँच नदियों का उल्लेख है—सिन्धु (सिन्ध), वितस्ता

(झेलम), असिक्नी (चुनाब), परुष्णी (इरावती या रावी), वियाष् (व्यास) और उनके साथ ही शुतुद्री (सतलज) और सरस्वती, यमुना और गंगा के नाम भी आये हैं। ऋग्वेद के एक भाग में जहाँ उषा के सूक्त हैं पंजाब के अद्भुत सौन्दर्यशाली प्रातःकाल की झाँकी मिलती है। लेकिन उसके अधिक भाग में बादल और बिजली मेघों और पर्वतों से घनघोर वर्षा के रूप में रुद्र प्रकृति का वर्णन है जो पंजाब में नहीं ब्रह्मावर्त के उस प्रदेश में पाई जाती है जहाँ सरस्वती और दृषद्वती नदियाँ बहती हैं। यहीं ऋग्वेद का अधिकांश भाग बना होना चाहिए।

ऊपर कहा हुआ भौगोलिक प्रदेश कई वैदिक जनों में बँटा हुआ था, जिनमें से कुछ प्रधान जनों के नाम मिलते हैं—जैसे गांधारी (जो अपने ऊनी माल के लिए प्रसिद्ध थे), मूजवन्त[1] (जहाँ का सोम प्रसिद्ध था) अनु, द्रुह्यु और तुरवश (परुष्णी के तट पर) पुरु और भरत (जो मध्य देश में थे)।

राजनीतिक संगठन—दस राजाओं का युद्ध—ऋग्वेदकालीन भारत में राजनीतिक एकता का भी पूरे वेग से विकास हो रहा था। ऋग्वेद में दाशराज्ञ (७।३३। २, ५; ८३।८) अर्थात् दस राजाओं के युद्ध का वर्णन है जो भरतों के राजा सुदास के साथ हुआ। यह संघर्ष उत्तर-पश्चिम में बसे हुए पूर्वकालीन जन और ब्रह्मावर्त के उत्तरकालीन आर्यों के बीच राज्याधिकार के लिए हुआ। मालूम होता है कि ऋग्वेद के समय की सभी जातियों ने, जिनमें अनार्य भी थे, इस महान् युद्ध में भाग लिया। सिन्धु नदी के पश्चिम में पाँच जन मुख्य थे—अलिन (वर्तमान काफिरिस्तान), पक्थ (वर्तमान पख्तून), भलान (सम्भवतः बोलन दर्रे के निवासी), शिव (सिन्धु के पास) और विषाणिन्। इनके अतिरिक्त पाँच दूसरे जन सिन्ध के इस पार के भीतरी प्रदेश के थे, जैसे अनु, द्रुह्यु, तुरवश यदु और पूरु। इस जमघट में तीन जन जमुना तटवासी ही थे जो अनार्य ज्ञात होते हैं। वे अज, शिग्रु और यक्षु थे। उनका नेता भेद था। इस समूह में शिम्यु नाम का एक और अनार्य राजा भी था। दूसरे आर्य राजाओं में कवश, शम्बर और दो वैकरण थे जो अपने साथ अपने अनुयायी इक्कीस जनों को और लाए। राजाओं के पुरोहित-ऋषि लोग इस युद्ध में नेतृत्व करते हैं। विश्वामित्र, दाशराज्ञ-संगठन के नेता थे और उनके प्रतिपक्षी सुदास के नेता वसिष्ठ थे। अनुओं के नेता भृगु थे। इस युद्ध में विजयी सुदास ऋग्वेद कालीन भारत के सर्वोपरि सम्राट् बन गए थे।

१. मूल लेखक ने मूजवन्त को कुहा के तट पर लिखा है। वस्तुतः मूजवन्त की पहचान मुँजान इलाके से की जानी चाहिए जो वंक्षु नदी के दक्षिण में गलचा भाषा-भाषी क्षेत्र है और जहाँ की बोलियाँ आर्य भाषा परिवार की हैं।

ऋग्वेदकालीन जनों में भरतों के अतिरिक्त पूरु भी महत्त्वपूर्ण थे। वे दोनों आगे चलकर कुरुओं में मिल गए। उन्हीं के सहकारी क्रिवि और सृञ्जय थे।

विभिन्न आर्य जनों में प्रभुत्व के लिए यह संघर्ष उस राजनीतिक विकास का अंग था जिसके द्वारा ऋग्वेदकालीन भारत बड़े राजनीतिक समूहों में संगठित होकर एक सार्वभौम या सम्राट् के शासन में आ रहा था। इस राजनीतिक विकास का उतना ही महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि आर्य लोग आदिम निवासी अनार्य जातियों पर पूर्ण रूप से अपनी विजय स्थापित कर सके। आर्य और अनार्य लोगों के मौलिक द्वन्द्व की झाँकी ऋग्वेद में प्रायः मिलती है। इस संघर्ष का कारण सांस्कृतिक भी था और राजनीतिक भी।

ऋग्वेद में अनार्य—ऋग्वेद में अनार्यों को दास, दस्यु या असुर कहा गया है। कुछ अनार्य सरदारों के नाम इस प्रकार आए हैं—इलिब्रिस, धुनि, चुमुरि, पिप्रु, वर्चिन् और शम्बर। कुछ अनार्य जनों के नाम भी हैं जैसे शिम्यु, कीकट, अज, यक्षु और शिग्रु। ऋग्वेद १।१३३।४ में पिशङ्ग वर्ण के पिशाचों और राक्षसों का उल्लेख है, जो युद्ध के समय भयंकर कोलाहल करते थे।

आर्य और अनार्य जनों का भेद स्पष्ट मिलता है। वह शारीरिक भी है और सांस्कृतिक भी। अनार्य काले रंग के और अनास या चपटी नाक वाले थे (जैसे द्रविड़)। (१) उनकी भाषा वैदिक-संस्कृति से भिन्न थी जो स्पष्ट नहीं थी (मृध्र-वाक्); (२) वे वैदिक कर्मकाण्ड से शून्य थे (अकर्मन्); (३) वे वैदिक देवों को नहीं पूजते थे (अदेवयु); (४) वे देवों के लिए भक्ति से रहित थे (अब्रह्मन्); (५) वे यज्ञ से विरहित थे (अयज्वन्); (६) वे वैदिक व्रतों का पालन नहीं करते थे (अव्रत); (७) उनके स्थान में वे भिन्न प्रकार के व्रत या धार्मिक नियमों को मानते थे (अन्यव्रत); (८) वे वैदिक देवों के निन्दक थे (देवपीयु); और (९) वे लिंग की पूजा करते थे (शिश्नदेव)।[1] (७।२१।५; १०।९९।३)।

१. इनमें से कुछ विशेषण आर्यों के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद ७।८३।७ में दस राजा और उनके सहायक जो सुदास के शत्रु थे, अयज्यु (यज्ञ रहित), और ७।१८।१६ में अनिन्द्र (इन्द्र को न मानने वाले) अन्यत्र, ऋग्वेद ७।१०४।१४–१५ में स्वयम् वसिष्ठ ऋषि को अनृत देव (झूठे देवों को मानने वाला) कहा गया है। इस प्रमाण के आधार पर और इस बात से कि सुदास के विरुद्ध लड़ने वालों में अनार्य सरदार और जातियाँ थीं, श्री रमाप्रसाद चन्दा ने यह परिणाम निकाला था कि ऋग्वेदीय इतिहास का सम्बन्ध आर्यों या इन्द्रपूजक राजाओं के घरेलू युद्ध से था न कि आर्यों और अनार्यों के युद्धों से।

आर्यों ने अनार्यों को वनों में और पहाड़ों की ओर हटा दिया और उन्हें दास बना लिया। वैदिक साहित्य में प्रायः 'दासी' का उल्लेख आता है। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में विराट् पुरुष के शरीर से चार वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए चौथे वर्ण शूद्र का नाम आया है, जिसमें दास भी सम्मिलित थे। अन्त-र्विवाह या मैत्री-सम्बन्ध के फलस्वरूप आर्यों और अनार्यों के बीच में अनिवार्यतः एक प्रकार का मिश्रण भी हो रहा था। इस प्रकार की मैत्री के उदाहरण ऊपर कहे हुए दाशराज्ञ युद्ध में आ चुके हैं। आर्यों ने भारत में तीन प्रकार का नियोग-कार्य पूरा किया, देश की विजय,—उसका उपनिवेशीकरण और उसे संस्कृति प्रदान करना। आदिवासियों को जीतना और उन्हें अपने में पचा लेने का काम भी आवश्यक था।

किन्तु कृष्ण-वर्ण अनार्यों को परास्त करना हँसी-खेल न था। ऋग्वेद के अनार्य अपनी बढ़ी-चढ़ी सभ्यता के साथ दुर्गों में सुरक्षित थे। ऋग्वेद में उनके

उनका यह भी मत था कि ऋग्वेद के युग में आर्यों का विस्तार और युद्ध आदिवासियों के साथ नहीं हुआ, किन्तु उस समय आर्य और दास एक ही मातृभूमि के पुत्रों की तरह आपस में मेल कर चुके थे। उनकी कुछ दूसरी मान्यताएँ, जो विवादग्रस्त हैं, ये हैं—(१) इन्द्र, वरुण, अग्नि और अन्य देवों के मानने वाले ऋषियों के धर्म को सिन्धु-उपत्यका के लोगों ने स्वीकार कर लिया था, जिनका अपना धर्म और संस्कृति अवनति पर थीं। (२) भरत, पूरु, यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु आदि वैदिक क्षत्रिय-जन भारत की ताम्रयुगीय जनता के प्रतिनिधि थे। (३) ऋषि अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रियों में भारी सांस्कृतिक मतभेद था। क्षत्रिय या इतर जातियाँ नर-बलि, अनुमरण (सती प्रथा) और ऐसे ही ब्राह्मण-विद्विष्ट रीतिरिवाज़ों को मानती थीं। (४) जातियों की विभिन्नता संस्कृति के भेद से उत्पन्न हुई। (५) वैदिक धर्म और सिन्धु-उपत्यका के धर्म का जब एक-दूसरे से सम्पर्क हुआ तो दो बातों में परिवर्तन हुआ, एक तो योग-परम्परा, जिसमें पहले बलि की विशेषता थी, वैदिक धर्म के अनुकूल बनाई गई। दूसरे, लोक-धर्म में बहुत-सी अवैदिक बातों की मान्यता जारी रही। योग का जन्म इसी देश में हुआ इसका प्रमाण मोहेंजोदड़ो में मिली हुई कुछ पत्थर की मूर्तियाँ हैं जिनके नेत्र अर्ध-निमीलित और दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है। चन्दा के अनुसार ये प्रागैतिहासिक सिन्धु-सभ्यता और उत्तरकालीन हिन्दू-जैन बौद्ध-सभ्यता के बीच की कड़ियाँ हैं। [पुरातत्त्व विभाग का मेमॉयर, सं० ४१]

पुरों और दुर्गों का उल्लेख है (१।४१।३), जिन्हें लोहे का (आयसी, २।५८।८), पत्थर का (अश्वमयी ४।३०।२०) लम्बे-चौड़े (पृथ्वी) विस्तृत (उर्वी) गऊओं से भरे हुए (गोमती, अथर्व ८।६।२३) कहा गया है। ऐसे ही सौ खम्भों वाले दुर्गों (शतभुजी, ऋग्वेद १।१६६।८; ७।१५।१४) और शरत्कालीन जलौघ से बचाने वाले दुर्गों का उल्लेख हुआ है।

हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो की खुदाई में मिले हुए नगरों के खण्डहरों में इस सभ्यता के अवशेष मिले हैं। आर्यों के प्रमुख विरोधी अनार्य पणि लोग थे जो यास्क के अनुसार वाणिज्य व्यवसायी थे (निरुक्त ६।२७)। यही सिन्धु-उपत्यका की वाणिज्य-प्रधान सभ्यता के निर्माता थे, जैसा कि वहाँ की खुदाई में मिले हुए समुद्री शङ्खों की बनी हुई वस्तुओं से ज्ञात होता है। सिन्धु-घाटी में आर्यों को एक उन्नत सभ्यता से टक्कर लेनी पड़ी।[1] वह अनेक नगरों में फैली हुई थी, जिन्हें जीतना आवश्यक हो गया। इसलिए आर्यों के देव इन्द्र 'पुरन्दर' अर्थात् पुरी के भेद करने वाले कहे गए।[2] (ऋग्वेद १।१०३।३)।

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों से आर्य और अनार्य के इस संघर्ष पर प्रकाश पड़ता है। मन्त्र १।१७४।७-८ में पृथ्वी को दास लोगों की श्मशान-भूमि (उपब्रर्हणी) कहा गया है। मन्त्र द्वितीय, २०।६।७ में इन्द्र को पुरन्दर और कृष्ण-योनि दासों की सेनाओं का नाश करने वाला कहा गया है। मन्त्र ४।१६।१३ में ५० सहस्र कृष्ण-वर्ण दासों को युद्ध-भूमि में मारने और पुरों के नाश करने का उल्लेख है। मन्त्र ४।३०।२१ में ३० सहस्र दासों को माया से मूर्छित करने का उल्लेख है। मन्त्र १।५३।८ में वंगृद नामक अनार्य राजा के सौ पुरों का ऋजिश्वा के द्वारा भेदन करने का वर्णन तब आया है, जब कि कृष्ण वर्ण वाले दासों पर चढ़ाई की। अनेक मन्त्रों में पर्वत-निवासी दास सेनापति शम्बर के पुरों या दुर्गों के ध्वंस का उल्लेख है, जिनकी संख्या नव्वे (१।१३०।७), निन्यानवे (२।१६।६), और सौ (२।१४।६) कही गई है। मन्त्र १०।२२।८ में इन्द्र के लिए की गई आर्यों की स्तुति में परिस्थिति को

---

१. पंजाब के दक्षिण में फैली हुई एक सभ्यता का परिचय आर्यों को था, यह बात ऋग्वेद के एक मन्त्र से (६।२०।१२; उसकी आवृत्ति १।१७४।६) से ज्ञात होती है जिसमें यह कहा गया है कि इन्द्र, तुरवश और यदु को स्वस्तिपूर्वक समुद्र के पार ले आये। इससे अनुमान होता है कि ऋग्वेद के अन्य आर्य तो उत्तर-पश्चिम से आये थे। किन्तु तुरवश और यदु दक्षिण से आये और आर्य जाति में मिलने के योग्य माने गए। [श्री रमाप्रसाद चन्दा, पुरातत्व विभाग का मेमॉयर सं० ३१]

२. वही।

संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—"हमें सब ओर से दस्यु घेरे हुए हैं। वे यज्ञ-कर्म नहीं करते (अकर्मन), न वे किसी चीज को मानते हैं (अमन्तु), उनके व्रत हमसे भिन्न हैं (अन्यव्रतः), वे मनुष्यों-जैसा व्यवहार नहीं करते (अमानुषः)। हे शत्रु नाशन्, तू उनका वध कर और दासों का नाश कर।

समाज—विवाह और परिवार— ऋग्वेदकालीन समाज सुसंगठित था। कुल उसकी इकाई थी और कुल संगठन का पितृमूलक था। कुल में मुख्यतः एक-पत्नी-व्रत की प्रथा थी। बहुपतिक विवाह अज्ञात था। पति गृह का स्वामी था और पत्नी गृह-स्वामिनी होती थी। सदाचार का भाव बहुत ऊँचा था। परिवार में अगम्या गमन जैसे पिता-पुत्री का सम्बन्ध अथवा भाई-बहन का सम्बन्ध[1] किसी प्रकार विहित न था। बाल-विवाह, जो पीछे प्रचलित हो गया था (१०।८५।२१-२२), अज्ञात था। विवाह में वर-वधू को स्वयम्वर की अनुमति थी (१०।२७।१२)। कुमारी कन्याएँ कुमारावस्था में पिता की रक्षा में रहती थीं, अथवा उसकी मृत्यु के बाद भाई की रक्षा में (२।१७।७; ४।५।५)।

विवाह में यौतुक दान की प्रथा थी। ऋग्वेद के विवाह-सूक्त १०।८५ से ज्ञात होता है कि विवाह के उपरान्त वधू पिता के घर से पति के घर ले जाई जाती थी और अपने नये घर में सास, ससुर, ननद, देवर के ऊपर अधिकार रखने वाली सम्राज्ञी मानी जाती थी। इस सूक्त से यह भी ज्ञात होता है कि विधिवत् सम्पन्न हुए विवाह को पुरुष या स्त्री किसी भी तरह समाप्त नहीं कर सकते थे और विधवा के विवाह की कल्पना न थी, यद्यपि एक मन्त्र में (१०।४०।२) अपत्य-रहित पुरुष की विधवा पत्नी का देवर के साथ विवाह कहा गया है। यज्ञों में पत्नी पति की सहभागिनी थी।

दायाधिकार या उत्तराधिकार— पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र होता था, पुत्री नहीं, किन्तु यदि पुत्री ही पिता की एकमात्र सन्तान हो तो उत्तराधिकार उसी को मिलता था। गोद लेने का अधिकार भी था (७।४।७-८)।

सम्पत्ति—सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार भी माना जाता था। पशु या गाय, अश्व, हिरण्य, दास-दासी आदि चल सम्पत्ति में स्वामित्व की अनुज्ञा थी। उसी प्रकार भूमि के स्वामित्व की भी अनुज्ञा थी। भूमि का बँटवारा खेतों के रूप में किया जाता था जिनके क्षेत्रफल की नाप होती थी। कृषि योग्य खेतों के बीच में पड़ती भूमि खिल्य कहलाती थी (१०।३३।६; १।११०।५; ६।२८।२; १०।

1. **ऋग्वेद १०।१०।१० में उन पूर्व युगों की (उत्तरा युगान) का एक संकेत है जब बहन के अयोग्य (अजामि) विवाह अर्थात् भाई के साथ सम्बन्ध कर लेती थीं।**

१४२।३)

आर्थिक जीवन—गोचर भूमि और कृषि—आर्थिक जीवन का केन्द्र पशु-सम्पत्ति थी। बैलों से हल चलाने और शकट खींचने का कार्य लिया जाता था। घोड़े रथ खींचने और आजि या दौड़ के काम में आते थे। भेड़, बकरी और गधे अन्य पालतू जानवर थे। कुत्ते चौकीदारी, पशुओं की रक्षा, रात को पहरेदारी आदि के काम में आते थे (४।१५।६; ८।२२।२; ७।५५।३)। गोपालों की देखरेख में गायें गोष्ठ (१।१६१।४) में चरती थीं। गोपाल के पास एक अंकुश होता था और वह गड्ढे में गिरने, खोने या चुराए जाने से गौओं की रक्षा करता था। कभी-कभी गौओं के लिए लोग धाड़े भी मारते थे (गविष्ठि, १।६१।२३)। गायों के कानों पर स्वामित्व-सूचक चिह्न बना दिए जाते थे।

ऋग्वेद में कृषि को बहुत महत्त्व दिया गया है। पंचविंश ब्राह्मण (१७।१) के अनुसार कृषि से ही आर्य की पहचान व्रात्य से की जाती थी, जो तत्कालीन हिन्दू-समाज से पृथक् थे।

हल से जोती जाने वाली धरती उर्वरा या क्षेत्र कहलाती थी। हल में छः, आठ या बारह तक बैल जोड़े जाते थे (८।६।४८; १०।१०१।४)। अन्न पक जाने पर हसिया से काटा जाता था (दात्र, सृणि) और बाँधकर गट्ठे बनाए जाते थे (पर्श) (८।७८।१०; १०।१०१।३; १३१।२)। उसे खलिहान (खल) में इकट्ठा करके मड़नी की जाती थी (१०।४८।७)। चलनी (तितौ) और सूप (शूर्प) का भी उल्लेख किया गया है (१०।७१।२)। उसाई करने वाला धान्यकृत् कहलाता था (१०।६४।१३)। अन्न मापने के बरतन को उरदर कहा गया है (२।१४।११)।

खात शकन् या करीश कहलाती थी। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर जुताई बुआई, लावनी और मड़नी का उल्लेख आया है (कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः, १।६।१।३)

सिंचाई—मनुष्यों के लिए कुएँ (अवत) और पशुओं के लिए लकड़ी की चरही (द्रोण, आहाव) (१०।१०१।७) का उल्लेख है। कुएँ से सिंचाई का पानी खींचने के लिए चरस (कोष), बरत (वरत्रा) और गरारी (अश्म-चक्र) का प्रयोग किया जाता था (१०।१०१।५-६)। ऊपर निकाला हुआ पानी चौड़ी पनाली या बरहों (सुषिरा सूर्मि के द्वारा खेतों में ले जाया जाता था (८।६६।१२)। पोखर (ह्रद) और नहरों (कुल्या) से भी सिंचाई होती थी (३।४५। ३; १०।६६।४)।

खेती के शत्रु—खेती को हानि पहुँचाने वाले शत्रुओं, जैसे कीड़ों, चिड़ियों, टिड्डियों आदि का उल्लेख है (१०।६८।१)। अतिवृष्टि और अनावृष्टि से भी

खेती को हानि पहुँचती थी।

धान्य—खेती में होने वाले अन्न को यव और धान्य कहा गया है (१।११७।२१; ६।१३।४)। बृहदारण्यक उपनिषद् (६।३।१३) में दस तरह के ग्राम्य धान्यों का वर्णन है—व्रीहि, यव, तिल, उड़द (माष), गेहूँ (गोधूम), मसूर, चना (अण्ड), प्रिअंगु, खल्व, और खलकुल।

धन—गाय, घोड़े और अच्छे पुत्र इन्हें ही धन समझा जाता था। अश्विनं सपुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति (५।४।११)।

मृगया—ऋग्वेदकालीन भारतीय कृषि और पशु-पालन के अतिरिक्त जीविका, विनोद और जंगली जानवरों से पशुओं की रक्षा के लिए शिकार भी खेलते थे। इसके साधन ये थे—बाण (इशु, २।४२।२), जाल (अथर्व १०।१।३०) जिन्हें पाश (३।४५।१), निधा (६।८३।४) मुक्षीजा भी कहा जाता था। इनके लगाने वाले बहेलिए निधापति होते थे (६।८३।४)। हिरन (ऋश्य) खन्दकों में पकड़े जाते थे (ऋश्यदा) (१०।३६।८)। वराह, का शिकार कुत्तों से किया जाता था और जंगली भैंसे का शिकार फेंके जाने वाले कमन्द से, (द्रेप्नोः जायाः १०।५१।६)। सिंह को पकड़ने के लिए गड्ढे की युक्ति काम में लाई जाती थी (परिपद १०।२८।१०)। अथवा शिकारियों द्वारा छिपकर (द्रुहसप्रद ५।७४।४) हाँका करते हुए चारों ओर से सिंह को बीच में घेरकर भी शिकार किया जाता था (सिंहं न क्रुधमधितः परिष्ठुः, ५।१५।३)। जंगली हाथियों के (मृग) पकड़ने के लिए पालतू हथिनियाँ (धेनु) काम में लाई जाती थीं (८।२।६)।

कारु-शिल्प—बढ़ई (तक्षा ६।११२।१) शिल्पियों का अगुआ था। वह युद्ध या सवारी के लिए रथ, माल ढोने के लिए छकड़े (अनस् ३।३३।६) बनाता था, जिनकी छत 'छदिस्' कहलाती थी (१०।८५।१०)। वह परशु (१।१०५।१८) और बसूले (वाशी) से काम करता था और सुन्दर नक्काशी का काम करता था (प्रिया व्यक्ता तष्टानी, १०।८६।५)। धातु का काम करने वाले कर्मार कहलाते थे (१०।७२।२), जो धातु को आग में गलाते थे। (अधमत १०।७२।२; ५।६।५ उपध्माता इव धमति।) वह चिड़ियों की पंखों की धोंकनी (पर्णेभिः शकुनानाम्) और सूखी लकड़ियों से धातु को गलाकर उसके बर्तन बनाता था (अयस्मय घर्म, ५।३०।१५)। लोहे को पीटकर भी बर्तन बनाए जाते थे (अयोहत, ६।१।२)। सुनार (हिरण्यकार) सोने के आभूषण गढ़ता था (१।१२२।२)। सोना सिंधु जैसी नदियों से जिसे 'हिरण्यवर्तिनि' कहा गया है (६।६१।७) और भूमि से (निखातं रुक्मम्, १।११७।५) प्राप्त किया जाता था। चर्मकार प्रत्यञ्चा,

गोफना, रथ कसने की बद्धियां, रास, चाबुक या मशक (दृति) आदि चमड़े का सामान तैयार करता था। चमड़ा कमाने की कला भी ज्ञात थी (वैदिक इण्डैक्स, १।२३४, २५७)। कपड़े बुनने वाला (वासो वाय, १०।२६।६) अपने करघे (वेम) पर बुनाई का काम करता था। बुनने की करघी 'तसर' कहलाती थी, ताना 'ओतु' और बाना 'तन्तु' कहलाता था (६।२।६)। बुनाई का काम बहुत करके स्त्रियाँ करती थीं (१।६२।३)। एक मन्त्र में (६।११२।३) ऋषि ने अपने पिता को भिषज और अपनी मां को चक्की पीसनेवाली (उपलप्रक्षिणी) कहा है।

व्यापार और नगदी—ऋग्वेद में व्यापारी के लिए वणिक शब्द है (१।१२२।११)। वस्तुओं के विनिमय की भी प्रथा थी। दस गायों को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात एक मन्त्र में कही गई है (क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः, ४।२४।१०)। हाट के भाव-ताव एवं सौदा पक्का करने के उत्तरदायित्व का भी उल्लेख हुआ है—'कोई थोड़े दाम पर (कनीयवस्न) भारी मूल्य की वस्तु बेच देता है, पर फिर लेनेवाले के पास जाकर यह कहता है कि मैंने नहीं बेची (अविक्रीत) और अधिक मूल्य चाहता है; किन्तु इसलिए कि उसने कम मूल्य पर अधिक वस्तु दे दी है वह मूल्य नहीं बढ़ा सकता (भूयसा कनीयो न अरिरेचीत्) मूल्य कम हो या अधिक बिक्री के समय जो तय हो उसे ही दक्ष विक्रेता और दीन-क्रेता दोनों को मानना चाहिए' (४।२४।६)। रुपए-पैसे का उल्लेख मन्त्र १।१२६।२ में झलकता है, जहाँ सौ निष्क और सौ अश्व देने का वर्णन है। ऋण का व्यवहार भी चलता था (२।२७।४)। प्रायः कितव या पासा खेलने वाले ऋण-ग्रस्त हो जाते थे। एक जगह आठवां या सोलहवां भाग व्याज के रूप में या मूल लौटाने के रूप में देने का उल्लेख है (यथा कलां यथा शफं यथ ऋणं सन्नयामसि, ८।४७।१७)।

सामुद्रिक व्यापार भी होता था। ऋग्वेद (७।६५।२) में समुद्र शब्द का अर्थ निश्चित रूप से सागर है, जहाँ सरस्वती नदी के पर्वत से समुद्र तक बहने का उल्लेख है। समुद्र से प्राप्त होने वाले धन (रयिं समुद्रात् १।४७।६, वसूनि समुद्रात् ७।६।७; ६।६७।४४) का भी उल्लेख हुआ है, जिसका तात्पर्य मोती या समुद्री व्यापार से होने वाला लाभ हो सकता है (१।४८।३; ५६।२, ४।५५।६)। एक कहानी में भुज्यु के जहाज (नाव) के समुद्र में टूट जाने का उल्लेख है। वह अथाह और आश्रयरहित समुद्र में गिर पड़ा जहाँ से सौ डाड़ों से युक्त जहाज में अश्विनी-कुमारों ने उसका उद्धार किया (भुज्युं अस्तं शतारित्रां नावं आतस्थि-वांसम् १।११६।३—५)। इसमें निश्चित रूप से पोतों के द्वारा सामुद्रिक यात्रा

करने का प्रमाण पाया जाता है।

वेष-भूषा—लोगों की वेष-भूषा (वासस्, १।३४।१; वसन १।६५।७; वस्त्र १।२६।१७) में एक अधोवस्त्र (नीवी) और एक उत्तरीय (अधीवास, १।१४०।६) शामिल थे। वस्त्र प्रायः भेड़ की ऊन से बनते थे (ऊर्णा, ४।२२।२)। परुष्णी की ऊन और गन्धार की भेड़ें (१।१२६।७) प्रसिद्ध थीं। पेशस्कारी नाम की स्त्रियाँ सुईकारी के कसीदे के वस्त्र (पेशस्) तैयार करती थीं। सुनहली जरी या किमखाब की लम्बी अचकन (हिरण्मयान् अतकान्) का भी उल्लेख है। मुनि लोग अजिन (१।१६।१०) या दूसरे प्रकार की त्वचाएँ जिन्हें 'मल' कहा गया है पहनते थे (मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला, १०।१३६।२)।

आभूषण—स्त्री और पुरुष दोनों ही सोने के आभूषण पहनते थे। जैसे कानों में कर्णशोभन (८।७८।३), गले में निष्कग्रीव (२।३३।१०), हाथों में कड़े और पैरों में खड़ुवे (खादि, १।१६६।६; ५।५४।११ पत्सु खादयो) और छाती पर सुनहले पदक (वक्षःसु रुक्मा)। गले में मणियाँ भी पहनी जाती थीं (मणिग्रीव, (१।१२२।१४)। बालों को काढ़कर उनमें तेल डालते थे। स्त्रियाँ बालों की पट्टियाँ बनाती थीं। कभी-कभी पुरुष लम्बे बाल रखते थे। वसिष्ठ कुल के लोगों में अपनी लम्बी जटाओं का जूड़ा सिर के दाहिनी ओर बाँधने का रिवाज था (दक्षिणत-स्कपर्दा वसिष्ठाः ७।३३।१)। एक मन्त्र में एक युवती स्त्री को चतुष्कपर्दा कहा गया है (चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा, १०।११४।३)। कुछ लोग दाढ़ी (श्मश्रू, २।११। १७) रखते थे, पर क्षौर कराने की प्रथा भी थी। सिल्ली पर उस्तरा तेज करने का भी उल्लेख है (सन्नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरम्, ८।४।१६)। नाई को 'वप्ता' कहा गया है (वप्तेव श्मश्रू वपसि १०।१४२।४)।

अन्न और पान—क्षीर और उससे बनने वाले घृत और दधि का भोजन में सर्वाधिक महत्त्व था (१।१०६।२, १।१३४।६; ८।२।६)। क्षीरपाकोदन अर्थात् दूध में पकाये हुए भात (जिसे खीर कहते हैं) का भी उल्लेख है। अन्यत्र दृति या चमड़े की मशक में भरे हुए दही से बनने वाले पनीर का भी वर्णन है (दधन्, ६।४८।१८, दृतेरिव दधन्वतः सुपूर्णस्य)। खूब घी डालकर बनाये हुए मालपूए खाने का भी वर्णन आया है (अपूपं घृतवन्तम् १०।४५।६)। जौ को कूटकर उसकी भूसी अलग करके भूनकर पीसते थे और उसको सत्तू एवं दही में मिलाकर करम्भ नामक भोज्य-पदार्थ बनाते थे (१।१८७।६ १०)। माँस प्रायः यज्ञीय पशुओं का, जैसे भेड़-बकरी (अजावयः) का, होता था। गऊ को अघ्न्या अर्थात् वध के अयोग्य कहा गया है। (८।१०१।१५-१६) सुरा निन्दित समझी जाती थी, (७।८६।६)। उसे पीकर लोग दुर्मद हो जाते थे और सभा-समितियों में आपस में लड़

जाते थे (पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम ८।२।१२)। सोम का यज्ञों में विधान था। ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवें मण्डल में और छः अन्य सूक्तों में सोम की प्रशंसा की गई है। सोमवल्ली मूजवन्त पर्वत पर (१।६३।६) अथवा कीकटों के देश में (३।५३।४) उत्पन्न होती थी। सोम रस के तय्यार करने में सोमलता को कूटने-छानने आदि की प्रक्रिया बड़ी जटिल थी जिसका पूरा विवरण इस समय स्पष्ट नहीं है। उसे भूमि पर बिछी हुई खाल (त्वक्, ९।६५।२५) पर फैलाकर वेदी या धिषणा (१।१०९।३) पर रखकर ग्रावा पत्थरों से कूटते थे या मूसली (मन्था) से ऊखल में कूटकर रस निकालते थे जो चमू नाम के पात्रों में (९।९९।८) इकट्ठा किया जाता था; यह देवों के लिए होता था। अथवा चमस या कलश नामक बर्तनों में सोम को भरते थे जो ऋत्विजों के लिए होता था। कूटने से पहले सोमलता को पानी में भिगोकर रखा जाता था जिससे अधिक रस निकल सके (आप्यायन ९।७४।९)। सोम की पहचान निश्चित नहीं; कुछ लोग उसे द्राक्षा और कुछ गन्ना मानते हैं। सोम की मादकता और आनन्ददायिनी विशेषता का उल्लेख किया गया है (८।१८)।

आमोद-प्रमोद—इनमें रथ की दौड़, घोड़ों की दौड़, पासे खेलना (अक्ष-देवन), नृत्य और गान सम्मिलित थे। दौड़ के लिए आजि शब्द था (५।३७।७)। दौड़ के मैदान को काष्ठा या सप्त्य कहते थे। वह मैदान चौड़ाई और लम्बाई में नपा-तुला होता था। विश्पला नामक एक तेज घोड़े का उल्लेख आया है। अक्ष या पासे का खेल खेलते समय लोग हार-जीत का दाँव (विज १।९२।१०) लगाते थे। अक्ष खेलने के दुष्परिणामों का भी उल्लेख है। उससे लोगों का सर्वनाश हो जाता था और ऋण उतारने के लिए अपने-आपको दूसरे के यहाँ दास तक बनाना पड़ जाता था। कितव या जुआरी पुत्र को पिता की डाँट-फटकार सहनी पड़ती थी (पितेव कितवं शशास्य २।२९।५)। स्त्री और पुरुष दोनों ही झाँझ-मजीरे (आघाटि १०।१४६।२) के वाद्यों के साथ नृत्य में भाग लेते थे। उस समय तीनों ही प्रकार के वाद्यों का आविष्कार हो चुका था। अवनद्ध वाद्यों जैसे दुन्दुभि (१।२८।५), तन्तुवाद्यों जैसे कर्करि (२।४३।३) अथवा वाण या वीणा, जिसके सप्त-स्वरों की ठीक पहचान हो चुकी थी (वाणस्य सप्तधातुः १०।३२।४) और सुशिर वाद्य जिसे नाळी कहा जाता था (इयमस्य धम्यते नाळी १०।१३५।७)।

राजतन्त्र—ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष के राजनीतिक विकास को निम्नलिखित उत्तरोत्तर विस्तृत होते हुए संगठनों के रूप में समझा जा सकता है—

(१) गृह अथवा कुल।

(२) ग्राम

(३) विश् (कबीला)

(४) जन
(५) राष्ट्र

कुल—सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई कुल थी जिसमें एक पिता या ज्येष्ठ भ्राता के, जो कुलप कहलाता था (१०।१७९।२), अनुशासन को मानते हुए कई सदस्य एक ही गृह में (३।५३।६; २।४२।३) एक साथ रहते थे। गृह न केवल सम्पूर्ण अविभक्त परिवार के रहने के लिए पर्याप्त होता था, किन्तु उस कुल के गोधन (७।५६।१६) और भेड़-बकरियों के लिए भी (१०।१०६।५), जो दिन में व्रज या गोचर-भूमि में चरकर रात को घर लौट आते थे (२।३८।८)। एक घर में कई शालाएँ होती थीं और वे सब बाहर से बन्द की जा सकती थीं।

ग्राम—कई कुलों के समूह की संज्ञा ग्राम होती थी (१।४४।१०)। ग्राम का उलटा अरण्य या जंगल था जो जंगली पशु और वृक्षों से भरा रहता था (१०।९०।८)। ग्राम शब्द का तात्पर्य गाँव के लोगों से भी था, जैसे मन्त्र ३।३३।११ में ग्राम अर्थात् गाँव के लोगों को गोधन के लिए उत्सुक कहा गया है। गाँव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था (१०।६२।११; १०७।५)।

विश्—गाँव से बड़ी संस्था विश् नामक बस्ती थी, जिसका मुखिया विश्पति होता था (१।३७।८)। यह कहना कठिन है कि ऋग्वेदकालीन विश् स्थानीय बस्ती की संज्ञा थी अथवा रक्त से सम्बन्धित कबीला। यह भी स्पष्ट नहीं कि ग्राम अथवा कुल और गोत्र के साथ विश् का ठीक सम्बन्ध क्या था।

जन—विश् से बड़ा समूह जन था (१०।८४।२)। मन्त्र २।२६।३ में पुत्र, जन्म (=कुल), विश् और जन, इन चारों का उत्तरोत्तर क्रम से उल्लेख किया गया है। मन्त्र १०।९१।२ में एक ओर जहाँ गृह का वर्णन है, वहाँ उसके मुकाबले में उससे भिन्न विश् और जन का भी उल्लेख किया गया है। जन के प्रसंग में पाँच जनों का पञ्चजनाः एवं यादव जन (यादवाः ८।६।४६, ४८) और भारत जन (३।५३।१२) का उल्लेख मिलता है। राजा को जन का गोप्ता या रक्षक कहा गया है (३।४३।५)।

राष्ट्र—देश या राज्य के लिए राष्ट्र शब्द था (४।४२।१)[1]।

राजा—वेदकालीन राज्य-पद उन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम

---

१. और भी कई राजनीतिक संस्थाओं के नाम आते हैं। व्राजपति जिसकी स्थिति ग्राम-समूहों से बने हुए जन के नेता के रूप में थी और कुलों के मुखिया या कुलप जिसके अनुवर्ती रहते थे (१०।१७९।२)। शर्ध, व्रात और गण से तात्पर्य उन सैनिक समूहों से था, जो जन, ग्राम या कुल की इकाई के अनुसार युद्ध करते थे (२।२३।११)।

था, जो आर्यों के शत्रुओं के साथ युद्ध-निरत रहने से उत्पन्न हुई थीं। जैसे यूरोप की उत्तराखण्ड की आर्य-शाखाओं में, वैसे ही वैदिक इतिहास में भी प्रायः युद्ध के कारण राजा की उत्पत्ति हुई थी। ऋग्वेद १०।१२४।८ में जनता की उस दुर्दशा का वर्णन है जो शत्रुओं के विरुद्ध नेतृत्व करने वाले राजा के अभाव में उनकी होती है। यों राजा आक्रमण के समय और रक्षा के समय दोनों ही प्रकार के युद्धों में स्वयं अगुआ बनता था। उसे जन का गोप्ता (गोप्ता जनस्य) और दुर्गों का भेदन करने वाला (पुरां भेत्ता) कहा गया है।

इन सेवाओं के बदले में प्रजा को अपनी इच्छा से अथवा राजा के बल के कारण राजा की आज्ञा के अधीन रहना पड़ता था और राज-सत्ता की स्थिति के लिए उन्हें कर देना पड़ता था, जिसे बलि कहते थे (१।६४।४)। इसी कारण राजा बलिहृत् कहलाता था (७।६।५; १०।१७३।६)। जीते हुए शत्रुओं से भी राजा को कर मिलता था (७।६।५; १८।१९)। उसके बदले में राजा प्रजाओं में न्याय का वितरण करता था। व्यवहार-सम्बन्धी मामलों में वही अन्तिम धर्माध्यक्ष (१।२५।१३) था एवं दण्ड-नीति के क्षेत्र में भी वह प्रजा का रक्षक (पायुर विशः) था। उसके अधिकार विस्तृत थे, कोई उसे दबा न सकता था (अदब्धः ४।४।३)। स्वयं वह दण्ड से ऊपर था (अदण्ड्य), किन्तु प्रजा के लिए वह मुख्य दण्डधर होता था और राज-कार्य के लिए गुप्तचरों की भी सहायता लेता था (८।४७।११)। राजा की विशेषता उसका भव्य वेश (त्वेष संदृश १।८५।८) एवं उसका प्रभविष्णु राजप्रासाद था, जिसे सहस्र स्तम्भों वाला सभास्थान कहा गया है (सहस्रस्थूण सदस्, २।४१।५)। राजा के साथ उसका परिकर भी रहता था। एक स्थान पर सहस्र द्वारों वाले गृह का उल्लेख है (सहस्र द्वारं गृहम् ७।८८।५)।

राजा के मन्त्री—इन सबमें प्रधान पुरोहित था जिसका अर्थ है "आगे स्थापित" (१।१।१)। उसे पुरोधा भी कहते थे एवं उसके कार्य को पुरोहिति (७।६०।१२; ८३।४)। शिक्षक, पथ-प्रदर्शक, ऋषि तथा मित्र के रूप में वह राजा का मुख्य साथी था। ऋग्वेद में पुरोहितों के उदाहरण ये हैं—विश्वामित्र और वसिष्ठ त्रित्सु वंश के भरत राजा सुदास के पुरोहित (३।३३।५३; ७।१८); कुरु श्रवण राजा का पुरोहित (१०।३३) और शान्तनु का पुरोहित देवापी (१०।९८)। उसका मुख्य कार्य राजा के घर में पुरोहिताई करना था। धार्मिक बातों में वह राजा का दूसरा प्राण था, किन्तु राजनीति में भी वह नेतृत्व करता था। युद्ध में वह राजा के साथ जाता और उसकी रक्षा और जय के लिए देवों की स्तुति करता था (७।१८।१३)। भारतीय इतिहास के सभी युगों में ब्राह्मणों का राजनीति में

प्राधान्य इसी कारण रहा है। राजा के पार्श्ववर्ती लोगों में दो और थे, सेनानी अर्थात् सेना का नेता (७।२०।५; ६।६६।१) और ग्रामणी जो शासन और सैनिक कार्यों के लिए ग्राम का नेता था (१०।६२।११; १०७।५)। एक राज्य में अनेक ग्रामणी होते होंगे किन्तु वेदों में राजा के मन्त्रियों में एक ही ग्रामणी का उल्लेख आया है, जो सम्भवतः गाँव की जनता और उनके हितों का प्रतिनिधि था। राजा के व्यक्तिगत पार्श्वचर उपस्ति (१०।६७।२३) और इभ्य (१।६५।४) भी कहलाते थे।

परिषदें—राजा की एक-छत्र शक्ति की कुछ रोक-थाम करने वाली दो सार्वजनिक संस्थाएँ थीं, सभा और समिति, जिनके द्वारा जनता के हित से सम्बन्ध रखने वाली महत्त्वपूर्ण बातों में, यहाँ तक कि स्वयं राजा के चुनाव में भी, जनता की इच्छा प्रकट की जाती थी।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में सभा का उल्लेख है (६।२८।६, ८।४।९, १०।३४।६), किन्तु उनसे उसके स्वरूप और कार्यों पर निश्चित प्रकाश नहीं पड़ता। उसका अर्थ संसद् भी है और सामाजिक सम्मिलन तथा सार्वजनिक विषयों पर विचार करने के लिए सभा-स्थान भी। द्यूत क्रीड़ा के लिए भी सभा का प्रयोग होता था। सभा में श्रेष्ठ व्यक्ति सभासद् (१०।७१।१०) और सभा के योग्य व्यक्ति सभेय कहलाता था (२।२४।१३)। उत्तम कुल में उत्पन्न (सुजात ७।१।४) व्यक्ति सभा में जाते थे। सभा के योग्य धन (रयिः सभावान् ४।२।५) का भी उल्लेख है। इन शब्दों से कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकालीन सभा वृद्ध या प्रवर जनों की परिषद् या समिति थी। ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों में समिति का भी उल्लेख आता है, किन्तु उसके ठीक स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता। राजा के समिति में प्रिय पात्र होने (१० ९७।६) और समिति में उसके उपस्थित होने के कर्तव्य का भी उल्लेख हुआ है (९। ९२।६, राजा न सत्यः समितीरियानः)। एक मन्त्र में इस प्रकार का वर्णन है कि राजा अपने अभिभावी तेज से समिति में जाता है और वहाँ अन्य सदस्यों के चित्त और व्रतों को अपने अनुकूल करता है[1] (१०।१६६।४)। अन्यत्र कहा गया है कि राजा और समिति में राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए संज्ञान (सम-मनस्कता) का होना आवश्यक है। इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि राजा और समिति दोनों के मन्त्र, मन, चित्त, प्रयत्न और हृदय समान हों (१०।१९१।३-४)

न्याय—इस विषय की सामग्री अपेक्षाकृत कम है। उस समय यह प्रथा थी कि मारे गए व्यक्ति के सम्बन्धियों को धन देकर उसकी जान के बदले में उऋण हो सकते थे। एक व्यक्ति या मनुष्य को शतदाय (२।३२।४) कहा गया है क्योंकि

1. अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना।
आ वश्चित्तमा वो व्रतमा वोऽहं समितिं ददे॥

उसके प्राणों का मूल्य सौ गायें था। कञ्जूस और जनता में अप्रिय पणि लोगों को वैरदेय (५।६१।८) कहा गया है अर्थात् जिससे वैर का बदला चुकाया जाय। इस प्रकार प्राणघात के लिए द्रव्य देने की प्रथा से आँख के बदले आँख निकालने और दाँत के बदले दाँत तोड़ने की आदिम क्रूर प्रथा का सुधार हुआ और बदला लेने के निजी अधिकार पर भी पाबन्दी हुई। उग्र (७।३८।६) और जीवगृभ् शब्द (१०।६७।११), जिसका शब्दार्थ है जीवित पकड़ लेना, राजा के दण्डधर या रक्षा-पुरुषों के वाचक माने गए हैं। झगड़ों में पंचफैसला करने वाले को मध्यम-शी अर्थात् बीच में रहने वाला कहा गया है (१०।६७।१२)। बाद की तैत्तिरीय संहिता (२।३।१।३) में गाँव के न्यायकर्ता पंच को ग्राम्य-वादिन् कहा गया है।

युद्ध—ऋग्वेद काल में युद्ध आत्मरक्षा और विजय के लिए तथा पड़ौसी राज्यों में धन लूटने के लिए लड़े जाते थे (१०।१४२।४)। लड़ाई को युद्ध (१०।५४।२) या रण (१।६१।१,६) कहते थे। सेना पृत् या पृतना (७।२०।३) कहलाती थी। उसमें पैदल (पत्ति, अथर्व ७।६२।१) और युद्ध के लिए साथ प्रयाण करते हुए रथी (२।१२।८) होते थे। रथों का पैदल सेना के साथ युद्ध अथवा मुष्टा-मुष्टी युद्ध (मुष्टि हत्या १।८।२), जो पैदल सैनिक रथारोहियों के साथ करते थे, (५।५८।४), का भी वर्णन मिलता है। सैनिक योद्धा (१।१४३।५) के साज-सामान का उल्लेख दाश-राज्ञ (६।७५) युद्ध के वर्णन में आया है। वह जिन हथियारों से सुसज्जित रहता था उनका वर्णन इस प्रकार है—

(१) उसके पास धनुष(८।७२।४) और बाण (६।७५।१७) होते थे। धनुष मजबूत डण्डे को टेढ़ा झुकाकर और दोनों सिरों को प्रत्यञ्चा से मिलाकर बनता था; यह प्रत्यञ्चा (ज्या, ६।७५।११) गाय के चमड़े की बद्धी से बनती थी। बाण कान तक खींचकर छोड़ा जाता था, इसीलिए उसे कर्ण-योनि, अर्थात् जो कान के पास से जन्म ले, कहते थे। तरकश निषंग कहलाता था (५।५७।२ : सधन्वान इषुमन्तो निषंगिणः अर्थात् धनुष बाण और तरकश से सज्जित योद्धा)।

(२) कवच (वर्म) जो कई धातु के टुकड़ों को एक साथ सीने से बनता था (स्यूत, १।३१।१५;१०।१०१।८)। वह अत्क भी कहलाता था, जो बुना जाता था (व्युत) और खूब कसकर बैठता था (सुरभि, १।१२२।२; ६।२६।३)।

(३) हाथ का दस्ताना जो कि प्रत्यञ्चा की रगड़ से हाथ की रक्षा करता था (६।७५।१४)।

(४) झिलम टोप (शिप्र)—यह लोहे या ताँबे का बनता था (अयः शिप्रा, ४।३७।४)। या सोने का (२।३४।३, हिरण्य-शिप्रा)। शिरस्त्राण पहने हुए योद्धा शिप्रिन् कहलाता था (१।२६।२)।

अन्य हथियार थे, असि, उसकी म्यान (असि धार), परतला (वाल: १।१६२।२०), सृक्ति या भाला (७।१८।१७), बल्लम (सृक्, १।३२।१२), दिद्यु या फेंककर चलाने वाला अस्त्र (१।७१।५), और आद्रि (१।५१।३) या अशनि (६।६।५) अर्थात् गोफने में रखकर फेंकने के गोले-गोलियाँ। हथियारों के चलाने में (आयुधानि) अभ्यास-जनित निपुणता का परिचय दिया जाता था (१।६२।१)।

रथ में दो, तीन (१०।३३।५) या चार (२।१८।१) घोड़े जोते जाते थे जिन्हें सारथि (१।५५।७) लगाम (रश्मि) और चाबुक (कशा, ५।८३।३) से वश में रखता था। योद्धा का साथी उसके पास ही बाईं ओर रथ में बैठता था और इसी लिए सव्यष्ठा (२।१६।६; १०।१०२।६) कहलाता था।

युद्ध के अन्य साज-सामान ये थे : ध्वज (७।८५।२), दुन्दुभि (१।२८।५) और युद्ध-घोष (क्रन्द, २।१२।८)। युद्ध की कला के अन्तर्गत ये बातें थीं : आक्रमण से रक्षा के लिए बनाये हुए शत्रु के पुश्तों या मिट्टी की प्राकार को ध्वस्त करना (६।४७।२) अथवा अग्नि से दुर्गों (पुर ७।५।३) को हरण करना।

विद्या—ऋग्वेदकालीन सभ्यता का आधार सादा जीवन और उच्च विचार था। मिस्र और असीरिया की सभ्यताओं में भौतिक उन्नति की सूचक जो विशाल इमारतें हैं उनका यहाँ अभाव है, किन्तु बुद्धि और आध्यात्मिक उन्नति-सम्बन्धी प्रमाणों की कमी नहीं। जीवन सीधा-साधा था, किन्तु विचार ऊँचे और परात्पर तक जाने वाले एवं नित्य वस्तुओं का चिन्तन करने वाले थे। ऋग्वेद के कुछ मन्त्र, जैसे गायत्री-मन्त्र, ज्ञान के उच्चतम छोर का स्पर्श करते हैं और आज भी मानवीय आत्मा को उनसे बल मिलता है। कोई हिन्दू, चाहे वह कितना ही अर्वाचीन हो, इन मन्त्रों में एक शब्द, स्वर या मात्रा का परिवर्तन भी स्वीकार नहीं करेगा।

ऋग्वेद का इतिहास उस युग की संस्कृति का इतिहास है। ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में एक संग्रह-ग्रंथ है, जिसमें कई भाग और तिथिक्रम-सम्बन्धी कई स्तर हैं। उसमें देवताओं की स्तुतियाँ, आवाहन, यज्ञपरक मन्त्रों के अतिरिक्त नाराशंसी गान, जीवन-सम्बन्धी कविताएँ और उच्चतम दार्शनिक चिन्तन-संबन्धी मन्त्र हैं। स्वयं ऋग्वेद में प्राचीन और नवीन कविता एवं पूर्व और नूतन ऋषियों का, जो मन्त्रों के द्रष्टा थे, परिचय प्राप्त होता है (१।१।२; १०।६।२ इत्यादि)। उसकी सामग्री की रचना युग-युगों तक होती रही। प्रत्येक ऋषि उन मन्त्रों का द्रष्टा था; जिनका उसने अपने तप और ध्यान की शक्ति से साक्षात्कार किया (१०।१०६।४; १५४।२)। वे मन्त्र उस ऋषि के पुत्रों और शिष्यों अर्थात् उसके कुल में परम्परा से सुरक्षित रहते थे। इस प्रकार प्रत्येक

ऋषि-कुल एक वैदिक विद्यालय के समान था, जहाँ उसके मन्त्रों का संग्रह सुरक्षित रहता था और पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य के द्वारा आगे चलता रहता था। इन समस्त ऋषि-कुलों या वैदिक विद्यागृहों के कार्य के फल-स्वरूप मन्त्रों की प्रभूत सामग्री व्यापक राष्ट्रीय संग्रह के रूप में संचित हो गई। इस विशाल साहित्य अथवा मन्त्रों के तरल समुदाय में से पूजा उपासना के लिए एक सुलभ संग्रह की आवश्यकता थी; यों ऋग्वेद संहिता का जन्म हुआ। उसी में से उन्हीं नियमों के अनुसार साम, यजु और अथर्व, ये तीन अन्य वैदिक संहिताएँ बनीं। इस प्रकार वैदिक विद्या के विकास की चार अवस्थाएँ मिलती हैं: (अ) सबसे पूर्व के मन्त्रों का उदय; (इ) विभिन्न केन्द्रों या विद्यागृहों अर्थात् ऋषियों के कुलों में नूतन रचना द्वारा मन्त्रों का बाहुल्य; (उ) ऋग्वेद संहिता के रूप में मन्त्रों का एकत्र चुनाव; एवं (ऋ) उस मौलिक सामग्री से जो ऋग्वेद संहिता में सुरक्षित और संगृहीत की गई, अन्य तीन वैदिक संहिताओं का विकास।

ऋग्वेद में उल्लिखित यह विकास दीर्घकालीन इतिहास का सूचक है। "ऋग्वेद में प्राप्त सब मन्त्रों के अस्तित्व में आने के लिए सैकड़ों वर्षों के समय की अपेक्षा हुई होगी" (मैकडानल)। "सबसे पहले मन्त्रों की रचना और ऋग्वेद संहिता की पूर्ति के बीच में अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हुई होंगी" (विण्टरनिज)। इसीलिए जब हम ऋग्वेद के समीप आते हैं तो उसमें हमें भाषा और दार्शनिक विचार-सम्बन्धी ऊँचे विकास का परिचय मिलता है। ऋग्वेद की संस्कृत में कहीं भाषा के विकास की अपेक्षा का प्रमाण नहीं मिलता। उसका व्याकरण-सम्बन्धी ठाठ नितान्त परिपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया के लकार, वचन, पुरुष सुनिश्चित हैं और कारक एवं विभक्तियों के रूप भी नियत हैं, जो भाषा के रूपों के अधिक उन्नत विकास की दशा का परिचय देते हैं। बुनसेन के कथनानुसार "वैदिक सूक्तों के सबसे प्राचीन अंश भी मानव-जाति के अर्वाचीन इतिहास के अंग हैं।"

ऋग्वेद संहिता में सूक्तों का चुनाव और क्रम जिन सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है और जिन उपायों से मन्त्रों के पाठ की रक्षा की गई, वे मौलिकता तथा बढ़ी-चढ़ी साहित्यिक कुशलता के सूचक हैं। सर्वप्रथम ऋग्वेद के छः ऋषि ऐसे चुने गए जिनके सूक्त उस साहित्य का सब से अधिक प्रतिनिधित्व करते थे और संरक्षण के योग्य थे। उन ऋषियों के नाम ये हैं: गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। उनके बनाये हुए मन्त्र ऋग्वेद के मण्डल दो से सात तक छः विभागों में संगृहीत कर दिये गए, जिन्हें उनके 'कुल-ग्रन्थ' कहा जा सकता है। इस संग्रह में निम्नलिखित सूक्त और जोड़ दिये गए: (१) अन्य ऋषि परिवारों के सूक्त जो प्रथम मण्डल के सूक्त ५१ से १९१ तक उसके उत्तरार्ध

के रूप में संगृहीत हैं, (२) प्रथम मण्डल के पूर्वार्ध के अन्तर्गत पाए जाने वाले सूक्त, (३) कण्व ऋषि के पारिवारिक सूक्त जिनसे आठवाँ मण्डल बना है, (४) सोम-सम्बन्धी सूक्तों का एकत्र संग्रह जो सब नवें मण्डल में एक स्थान पर रख दिये गए, अन्य सूक्तों के साथ नहीं मिलाये गए, एवं (५) परिशिष्ट रूप में प्रथम मण्डल के बराबर की संख्या वाले १९१ सूक्त जो दसवें मण्डल में पाए जाते हैं, जिसमें भाषा, छन्द और विषय की दृष्टि से कुछ विशेषताएँ हैं और जिसमें दार्शनिक सूक्त तथा विवाह, अन्त्येष्टि आदि फुटकर विषयों के मन्त्र भी हैं।

इस प्रकार जो संहिता बनी उसमें ७० हज़ार पंक्तियाँ हैं, जिनमें ५ हज़ार दोहराई गई हैं। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि ऋषियों के सामने मन्त्रों का एक पूर्वनिर्मित तरल समुदाय था जिसमें से नूतन ऋषि भी सुविधानुसार उस सार्वजनिक साहित्यिक सम्पत्ति में से कुछ भाग ग्रहण कर लेते थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सूक्तों के प्रथम विकास और संहिता रूप में उनके संग्रह की लम्बी अवधि के बीच में मन्त्रों के शब्दों की यथावत् रक्षा बड़े प्रयत्न से की गई। संहिता पाठ के संग्रहकर्ताओं ने पूर्व ऋषियों के वास्तविक शब्दों को स्व-सम्पादित पाठ में सुरक्षित रखा है एवं उनके स्वर और रूपान्तरों की विशेषताओं में कुछ भी संशोधन या हेर-फेर किए बिना उन्हें ज्यों-का-त्यों रहने दिया है। इसके अपवाद केवल कुछ स्थल हैं जिनमें जिस काल में मन्त्रों का संकलन किया जा रहा था उस काल की संस्कृत भाषा के उच्चारण या सन्धि के नियमों के अनुसार कुछ परिवर्तन आवश्यक थे; जैसे कि 'सुम्न' की जगह 'द्यु म्न' नहीं किया गया, किन्तु 'त्वंहि अग्ने' की जगह 'त्वंह्यग्ने' लिखा गया।

संहिता पाठ के स्थिर होने पर उसकी रक्षा की अन्य युक्तियाँ निकाली गईं, जिससे कालान्तर में पाठान्तर या पाठभ्रष्ट होने की सम्भावना नहीं रही। यहाँ उन पर विचार करना अच्छा होगा, यद्यपि वे युक्तियाँ पर्याप्त समय बाद अस्तित्व में आईं। सर्वप्रथम संहिता पाठ में से ही एक नया पाठ तैयार किया गया, जिसमें प्रत्येक शब्द सन्धि और समास का विग्रह करके अपने पद रूप में रखा गया। इसे पदपाठ कहते हैं। दूसरा पाठ क्रमपाठ था जिसमें पदपाठ का प्रत्येक शब्द एक बार अपने से पहले पद के अन्त में और दोबारा अपने से आगे वाले पद के पूर्व पढ़ा जाता है। उदाहरण के लिए अ, इ, उ, ऋ यदि पदपाठ के चार शब्द हों तो वे क्रमपाठ में अइ, इउ, उऋ इस भाँति पढ़े जायंगे।

इन वैदिक ग्रन्थों की पाठशुद्धता को बचाए रखने के लिए और भी कुछ विशेष ग्रन्थों की रचना हुई जिन्हें प्रातिशाख्य और अनुक्रमणी कहते हैं। प्रातिशाख्यों में उदाहरणपूर्वक सन्धि के नियम बताये गए हैं, जिनके द्वारा पदपाठ

संहिता पाठ में परिवर्तित किया जा सकता है। वेद के अनुक्रमणी ग्रन्थों में सूक्त, मंत्र, शब्द, यहाँ तक कि अक्षरों की संख्या भी दी गई है जिससे ग्रन्थ-परिमाण की सच्चाई जानी जा सकती है। "इन युक्तियों की सहायता से भारतीय ग्रन्थों की पाठ-परम्परा जैसी सची है वह किसी भी अन्य प्राचीन साहित्य में अद्वितीय है" (मैकडानल, 'इण्डियाज पास्ट')।

शिक्षा—उस युग में विद्या और शिक्षा के उपायों पर भी विचार करना आवश्यक है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है आचार्य का घर ही विद्यालय था, जहाँ वह अपने शिष्यों को, जिनमें अधिकांश उसके पुत्र या सम्बन्धी आदि होते थे, वैदिक और शास्त्रीय ग्रन्थ पढ़ाता था जिनकी रचना में उसका भी उत्तरदायित्व था। ये ग्रन्थ कण्ठस्थ किये जाते थे। ऋग्वेद (७।१०३।४) में आचार्य के पढ़ाये हुए शब्दों के शिष्यों द्वारा दुहराये जाने का उल्लेख है। प्रवचन और उच्चारण का बहुत अधिक महत्त्व था। उच्चारण के सात प्रकार (१।१६४।३, ५; तैत्तिरीय संहिता ६।४।७।३) और वाक् की चार अवस्थाओं का उल्लेख आता है। एक स्थान पर विश्वामित्र को पारायण में निपुण कहा गया है। किन्तु शिक्षा का मौलिक ढंग तप था। तप आत्मदर्शन की युक्ति थी। तप के प्रभाव से ही दैवी प्रेरणायुक्त मुनि (देवेषित, १०।१३६।२, ४, ५), अथवा विप्र (प्रेरणा से भरे हुए मन्त्रगायक, १।१२६।२, ११; १६२।७; ४।२६।१; विप धातु कम्पन अर्थ में प्रयुक्त) अथवा मनीषी (७।१०३) इस प्रकार के विशिष्ट विद्वानों का निर्माण होता था। ये लोग उस ज्ञान के अधिकारी थे जिसका केवल एक अंश मानवी वाक् या शब्द के द्वारा प्रकट होता है। यहाँ हमने ऋग्वेद के उस गहन दार्शनिक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार सृष्टि में व्यक्त तत्व अव्यक्त अव्यय का एक अंश-मात्र है। एक दूसरे रोचक मन्त्र (७।१०३) में उस प्रकार के मानसिक चिन्तन और ध्यान का उल्लेख है जिसके फलस्वरूप ज्ञान या प्रकाश की पूर्णता मिलती है और जिसे प्राप्त कर लेने पर शिष्य स्वयं प्रवक्ता आचार्य बनने के योग्य होता है, ठीक उस प्रकार जिस प्रकार कि संवत्सर-भर चुपचाप पड़े हुए मण्डूक पर्जन्य मेघों के आने पर बोलने लगते हैं।[1]

धर्म और दर्शन—ऋग्वेद-काल में जीवन की जो सरल पद्धति थी उसकी तुलना में धार्मिक जीवन उतना ही जटिल था जैसा कि उस युग के बहुदेवतावाद से ज्ञात होता है।

सर्वप्रथम प्रकृति के प्रधान कार्यों के द्योतक देवताओं का एक वर्ग है जैसे

---

१. **संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।**
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः॥

(अ) द्यौः; (आ) पृथिवी (द्यावापृथिवी = आकाश और भूमि १।१४३।२; १५६।१ आदि); (इ) वरुण जो मूलतः आकाश के देवता थे और जिनके लिए ऋग्वेद के कुछ सर्वोत्तम सूक्त कहे गए हैं। वरुण को असुर भी कहा गया है जो ईरानी देव अहुर मज़्द से सम्बन्धित है। ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों में वरुण ऋत के अधिपति हैं जो विश्वजनीन नियमों की संज्ञा थी और पीछे चलकर जिसका प्रयोग विश्व के नैतिक नियमों के लिए होने लगा; (ई) इन्द्र, जो कि मेह बरसाने वाले मेघ और विद्युत् के देवता थे। जब आर्य पंजाब के सूखे प्रदेश से पूर्व की ओर वृष्टि और विद्युत के क्षेत्र ब्रह्मावर्त की पुण्य-भूमि की ओर बढ़े तब ऋग्वेदकालीन धर्म में वरुण की अपेक्षा इन्द्र शनैः-शनैः प्रधान बन गए; (उ) सूर्य, जिसका पूजन पाँच रूपों में किया जाता था जैसे (१) सूर्य, (२) सवितृ, सूर्य की प्रेरक शक्ति का वाचक, (३) मित्र, जो भारत की अपेक्षा ईरान में अधिक प्रसिद्ध हुआ, जहाँ हम उसे वरुण के साथ संयुक्त पाते हैं, (४) पूषन्, औषधि और वनस्पति जगत् की वृद्धि में सहायक सूर्य की शक्ति का प्रतीक, (५) विष्णु, जो ऋग्वेद में आकाशचारी सूर्य के रूप हैं, यद्यपि आगे चलकर उनकी पूजा पृथक् देव के रूप में होने लगी। (ऋ) रुद्र, जो प्रकृति के उग्र रूप के देवता थे और अपरकालिक शिव के पूर्वरूप थे; (ॠ) दो अश्विन्, जो प्रातः और सायंकाल के नक्षत्रद्वय के वाचक थे; (ऌ) मरुत, जो झंझावात के देवता और रुद्र के सहायक थे; (ए) वायु; (ऐ) वात, हवा के देवता; (ओ) पर्जन्य, वृष्टि, जल और नदियों के देवता; (औ) उषा, प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी जिसकी प्रशंसा में ऋग्वेद के कुछ अत्यन्त सुन्दर सूक्तों की रचना हुई।

इसके अनन्तर कुछ अन्य देवताओं का वर्ग है जिसका गृहस्थ जीवन से सम्बन्ध था जैसे (अ) अग्नि, जिसके तीन रूप थे : आकाश में सूर्य, अन्तरिक्ष में विद्युत और पृथिवी पर भौतिक अग्नि; (आ) सोम, (अमृत का पेय) जिससे सम्बन्धित सूक्त ऋग्वेद के अत्यन्त रहस्यमय सूक्त हैं। सोम को चन्द्रमा का पर्याय-वाची भी माना जाता है।

कुछ अमूर्त देवताओं का भी एक वर्ग था जैसे (अ) श्रद्धा, (आ) मन्यु।

कुछ अन्य छोटे देवता भी थे जैसे (अ) ऋभु, आकाशचारी देवयोनियाँ, (आ) अप्सराएँ और (इ) गन्धर्व।

कहीं कहीं देवों की कल्पना पशु रूप में भी की गई है जैसे इन्द्र की वृषभ रूप में और सूर्य की अश्व रूप में। किन्तु इतने से ही ऋग्वेद-काल में अश्व-पूजा सिद्ध नहीं होती। ऋग्वेद में पशु-प्रतीक-सम्बन्धी विश्वास (टोटेमिज़्म) का भी कोई चिह्न नहीं मिलता अर्थात् किसी पशु को पूर्वज मानकर उस पशु को पवित्र

और देवता मानने का विश्वास ऋग्वेद में नहीं पाया जाता; और न सर्प-पूजा के ही चिह्न हैं, यद्यपि सर्प को समुद्र का देवता अथवा अवर्षणकारी असुर कहा गया है, जिसका वध इन्द्र के द्वारा होता है। हाँ, कहीं-कहीं इन्द्र की मूर्ति को शत्रुओं से रक्षा करने वाला कहा गया है, जिसमें हमें कुछ झलक उस प्रकार के विश्वास की मिलती है जिसमें गंडे-ताबीज को देवता की शक्ति से युक्त मानकर रक्षार्थ प्रयुक्त किया जाता था।[1] ऋग्वेदीय देवों के शत्रु भी थे जिन्हें असुर और राक्षस कहा गया है।

ऋग्वेदीय धर्म का मुख्य रूप उन देवताओं की पूजा करना है जिन्हें निर्दिष्ट यज्ञों के द्वारा प्रसन्न करके उनसे वरदान या प्रसाद पाने की अभिलाषा की जाती थी। विशेष-विशेष यज्ञों के द्वारा वे देवता वश में किए जा सकते थे। यज्ञ में क्षीर, अन्न, घृत, मांस और सोम की आहुतियाँ दी जाती थीं। किन्तु ऋग्वेद में जिसका विशेष विस्तार है वह है सोमयज्ञ। यज्ञीय कर्मकाण्ड की इतनी वृद्धि हुई कि उसके विधान के लिए विभिन्न ऋत्विजों का विकास हुआ; जैसे होता मन्त्रपाठ के लिए, अध्वर्यु कर्मकाण्ड के लिए और उद्गाता सामगान के लिए। इनके साथ सहायक भी होते थे। कुछ यज्ञ बहुत विस्तारयुक्त और व्ययसाध्य होते थे, जिन्हें केवल राजा या रईस लोग (मघवन्) ही कर सकते थे। ऋग्वेद का दृष्टिकोण धनिक वर्ग के लिए है, उसमें सार्वजनिक धर्म, जो जनता के लिए उपयुक्त हो, कम ही मिलता है।

इस कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म का पर्यवसान उस गहन दर्शन के रूप में हुआ जिसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद के दसवें मण्डल तथा कुछ अन्य सूक्तों में पाई जाती है। वहाँ बहुदेवतावाद को खुले तौर पर और साहस के साथ चुनौती दी गई है और विश्व की मूलभूत एकता का प्रतिपादन करते हुए उसे एक अद्वितीय ब्रह्म की रचना कहा गया है जिसके विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति अथवा अदिति (सर्वोपरि अग्रिम मातृशक्ति) इत्यादि अनेक नाम दिये गए हैं। सृष्टि को विराट् पुरुष (सर्वोपरि आत्मतत्त्व) के आत्म-यज्ञ का परिणाम बताया गया है; अथवा असत् तत्व के अग्नि या जलीय रूप में विकसित होने पर सृष्टि-रचना मानी गई। एक ऋग्वैदिक मन्त्र (१।१६४) में बड़ी ही स्पष्टता से उस "एक तत्व (एकं सत्)" का उल्लेख है "जिसे ज्ञानी लोग अनेक भाँति से पुकारते हैं (विप्राः बहुधा वदन्ति) जैसे अग्नि, यम अथवा मातरिश्वा के विभिन्न नामों से।"

अन्ततः ऋग्वेद मृत्यु के अनन्तर होने वाले उस जीवन में विश्वास करता है जो यम से अनुशासित लोक में प्राप्त होता था।[2]

१. अंग्रेज़ी : Fetishism।
२. देखिए, मैकडानल-कीथ कृत वैदिक इंडैक्स; एवं कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया अध्याय ४, ५।

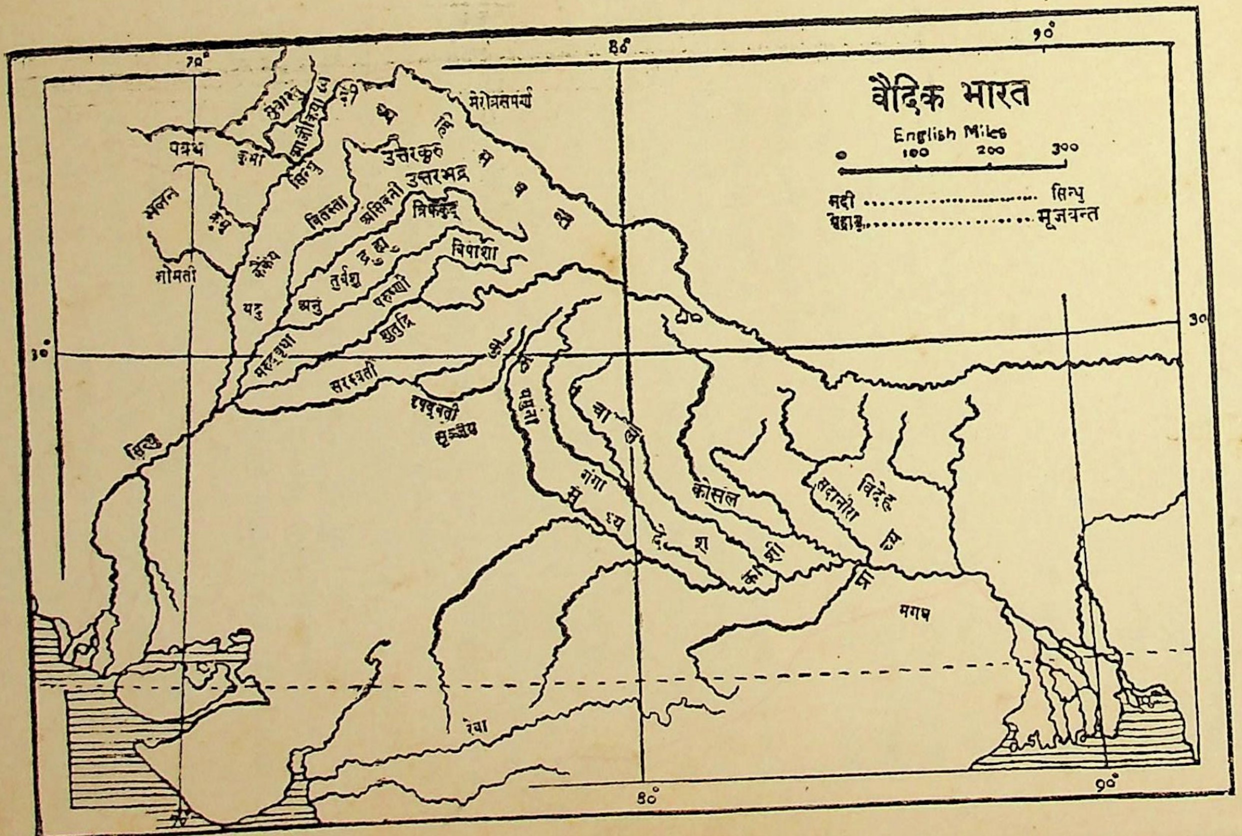
उत्तरकालीन वैदिक सभ्यता

प्रमाण सामग्री—ऋग्वेदकालीन सभ्यता उस सभ्यता से विभिन्न थी, जो उत्तरकालीन वैदिक साहित्य से, जैसे उत्तरकालीन संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों से, प्रकट होती है।

आरम्भ में यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार वैदिक साहित्य के विभिन्न भाग एक-दूसरे में से विकसित होते गए। ऋग्वेद-संहिता मूल ग्रन्थ था। उसी में से सामवेद-संहिता बनी। किन्तु यजुर्वेद की कृष्ण और शुक्ल इन दो संहिताओं में नई सामग्री भी है। वह उन मन्त्रों के रूप में है जो यज्ञीय कर्मकाण्ड कराते समय अध्वर्यु के लिए आवश्यक थी। कृष्ण यजुर्वेद संज्ञा इस कारण पड़ी, क्योंकि उसमें मूलमन्त्र-भाग के साथ उसकी गद्यात्मक व्याख्या भी शामिल है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में मन्त्र-भाग और यजुष्-भाग अर्थात् पद्य और गद्य दोनों ही हैं। किन्तु व्याख्यात्मक गद्य-भाग 'शतपथ ब्राह्मण' के रूप में बिलकुल अलग संगृहीत हैं। चौथी संहिता अथर्ववेद-संहिता थी। वह यज्ञ के निरीक्षक 'ब्रह्मा' के उपयोग के लिए थी। इसमें सात सौ इकत्तीस सूक्त और लगभग छः हज़ार मन्त्र हैं, जिनमें से कुछ तो ऋग्वेद से भी पहले के हैं और कुछ में बहुत सी घरेलू जीवन की बातें आती हैं; उदाहरण के लिए (१) रोगों को दूर करने वाले जादू-टोने के मन्त्र (जैसे ५।२२ जिसमें तक्मा या ज्वर का उल्लेख है); (२) कृषक, अजपाल और व्यापारी लोगों के लिए शुभाशीर्वाद सूचक मन्त्र; (३) संज्ञान या मेल-जोल के लिए जादू-टोने के मन्त्र (स्वामी के साथ, समिति के साथ अथवा न्यायालय में); (४) विवाह और प्रेम के गीत; (५) राजा आदि से सम्बन्धित मन्त्र एवं इसी प्रकार के अन्य विषय।

संहिताओं के बाद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का विकास हुआ।

ब्राह्मण भारोपीय गद्य-साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। उनमें वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों का विवेचन है और तत्सम्बन्धी अनेक


वैदिक भारत
English Miles
0 100 200 300
नदी .... सिन्धु
पहाड़ .... मूजवन्त
मेरोत्रवसर्पण
उत्तरकुरु
उत्तरमद्र
वितस्ता
त्रिककुद
विपाशा
तुर्वश
अनु
यदु
परुष्णी
शुतुद्रि
मरुद्वृधा
सरस्वती
दृषद्वती
गोमती
क्रुमु
कुभा
सिन्धु
यमुना
गंगा
कोसल
सदानीरा
विदेह
काशी
मगध
रेवा
70°
80°
90°
30°

कथाओं के द्वारा कर्मकाण्ड का महत्त्व समझाया गया है एवं कर्मकाण्ड की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया है। उनका सम्बन्ध वेदों से है, जैसे ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बन्धित है और उसमें सोमयज्ञ और राज्याभिषेक विधि का वर्णन किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से है जिसमें व्रात्यस्तोम यज्ञों का वर्णन है, जिनके द्वारा अनार्य लोग आर्य-समुदाय में सम्मिलित किए जाते थे। शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। इसमें अनेक विषय हैं और यह वैदिक युग का सबसे मूल्यवान ग्रन्थ है। गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक हैं। उनका यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उनमें वर्णित दार्शनिक और रहस्य-सम्बन्धी विषयों के अध्ययन के लिए अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था। उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थों में ऐतरेय कौशीतकी और तैत्तरीय हैं, जो उस नाम के ब्राह्मण के ही भाग हैं। पहले दो का सम्बन्ध ऋग्वेद से और तीसरे का कृष्ण यजुर्वेद से है।

आरण्यक उपनिषदों से पहले की कड़ी थे। उपनिषद ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम विकास को सूचित करते हैं और आरण्यकों का अन्तिम रूप उनमें पाया जाता है। उनकी भाषा से, जो लौकिक संस्कृत के अत्यन्त निकट है और लगभग पाँच सौ ईसवी पूर्व में विकसित हुई, ज्ञात होता है कि वे वैदिक साहित्य के समाप्ति-काल की रचनाएँ हैं। ऋग्वेद में मोटे तौर पर दो प्रकार के विषय हैं, ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। इनमें से कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मणों में और ज्ञानकाण्ड का उपनिषदों के रूप में हुआ। उपनिषदों का सम्बन्ध यज्ञीय विधि से नहीं किन्तु आत्मविद्या से है, जिसके द्वारा जीवात्मा संसार से मुक्त होकर विश्वात्मा या ब्रह्म में लीन हो जाती है। सामवेद का छान्दोग्य और शुक्ल यजुर्वेद का बृहदारण्यक सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरे प्रसिद्ध उपनिषद ये हैं: कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मैत्रायणीय, तैत्तरीय, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य और केन। कठ के अतिरिक्त अन्य उपनिषद् बुद्ध से अधिक प्राचीन नहीं माने जाते। उत्तर-वैदिककालीन इतिहास और सभ्यता के अध्ययन के लिए उपरलिखित विशाल विविध विषयक साहित्य का आश्रय लेना आवश्यक है।

भौगोलिक सीमा का विस्तार— ऋग्वेद के युग में सभ्यता का केन्द्र पश्चिम से, जहाँ पंजाब में पंचजन लोगों का निवास था, पूर्व की ओर, जहाँ सरस्वती और दृषद्वती के बीच में भरत जन की स्थिति थी, विस्तारोन्मुख रहा है। किन्तु इस उत्तर-युग में सभ्यता के पूर्व की ओर प्रसार की यह प्रक्रिया निश्चित रूप से पूरी हो चुकती है। उसका केन्द्र कुरुक्षेत्र था जिसके दक्षिण में खाण्डव, उत्तर में

तूर्घ्न और पश्चिम में परीनः था। इस केन्द्र के चारों ओर, जो पीछे मध्यदेश कहलाया और जिसमें कुरु-पंचाल सम्मिलित थे शत्रस् और उशीनर एवं उत्तर कुरु और उत्तर मद्र और सात्वत् दक्षिण की ओर बसे हुए थे, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसिद्ध भौगोलिक अवतरण से ज्ञात होता है। पश्चिम के देश पीछे पड़ते गए और कुरु पंचाल की अपेक्षा पूर्व के जनपदों, जैसे कोसल (अवध), विदेह (उत्तरी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार) और अंग (पूर्वी बिहार), का महत्त्व बढ़ता गया। दक्षिण की ओर विन्ध्य प्रदेश में, जिसका नाम किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता, कुछ ऐसी जातियाँ बसी थीं जो पूरी तरह से ब्राह्मण-वर्ण-व्यवस्था का अंग नहीं बनी थीं, जैसे अंध्र, पुलिन्द (अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित), मूतिब, पुण्ड्र और शबर (जो अब भी मद्रास और उड़ीसा की सीमा पर रहते हैं और मुण्डा भाषा बोलते हैं); एवं निषध, तथा विदर्भ का प्रदेश जो ऐतरेय ब्राह्मण (७।३४।६) और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (२।४४०) में उल्लिखित है। प्रकट है कि उस समय तक आर्य सभ्यता विन्ध्य के उस पार नहीं फैली थी।

नये राज्य और जन : कुरु-पंचाल—देश-विस्तार के परिणामस्वरूप नये जनपद और जन अस्तित्व में आये जहाँ जीवन के नये केन्द्र स्थापित हुए। इस काल में ऋग्वेद के अनु और द्रुह्यु, तुर्वश, क्रिवि और कुरु, पुरु और भरतों का नाम नहीं सुन पड़ता, किन्तु नये जन और एकीकृत राज्यों का नाम आने लगता है जिनमें कुरु-पंचाल मुख्य थे। ग्रन्थों के अनुसार वे वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, उत्तम संस्कृत भाषा के वक्ता (शतपथ ३।२।३।१५), यज्ञों में विधिपूर्वक यजन करने वाले थे। उन्हीं में सर्वोत्तम राजा थे और सर्वश्रेष्ठ परिषद् भी कुरु-पंचाल में ही थी। और भी कितनी ही बातों में वे अग्रणी थे। पंचाल के राजा प्रवाहण जैवलि के विषय में कहा गया है कि वे सदा पांचाल-परिषद् में उपस्थित होते थे (छान्दोग्य उप० ५।३; बृहद् उप० ६।२।१-७)। कुरु-पंचालों के जिस विरोध का उल्लेख महाभारत में आता है, वैदिक ग्रन्थों में उसका कहीं पता नहीं। वहाँ तो कुरु पंचालों के एकीभूत राज्य का वर्णन है जो संस्कृति और समृद्धि का केन्द्र था, यद्यपि उससे पूर्वकालीन कुरुओं का पृथक् इतिहास उतार-चढ़ाव वाला था। कुरु-पंचाल-उन्नति की पराकाष्ठा परीक्षित और जनमेजय के समय में हुई। उनकी राजधानी आसन्दीवत थी (शतपथ ब्रा० १३।५।४।२) एवं मष्णार (ऐत० ब्रा० ८।२३।३) और कारोती (शत० ब्रा० ६।५।२।१५) नामक दो अन्य प्रधान नगर भी थे। अथर्ववेद में इस समृद्धि का चित्र खींचते हुए कहा गया है कि परीक्षित के राष्ट्र में लोग ऐसे सुखी और सम्पन्न थे कि पत्नी अपने पति से पूछती थी—"दही, दूध में चलाये हुए सत्तू, या मधुपान, इनमें से आपके लिए क्या